3-3 V2

द्वितीय सर्गः

रघुवंश - द्वितीयसर्गः

कार्यक्रम अन्तर्गत वे अपने क्षेत्रमें जन-सम्पर्कके साथ साथ क्षेत्रीय विकासके सम्बन्धमें आवश्यक विचार विमर्श करेंगे।

इस अवसरपर जनता पार्टीके कार्यकर्ताओंके साथ-साथ अन्य प्रबुद्ध वर्गके लोगोंसे भी मिलेंगे तथा क्षेत्रीय विकासके प्रश्नपर उनकी राय जाननेका प्रयत्न करेंगे। आज उन्होंने जमानियाका दौरा किया।

अप्रैलको डिप्लोमा इन्जीनियर दिवस

सैदपुर (गाजीपुर), १६ अप्रैल। उत्तर प्रदेश डिप्लोमा इंजीनियर्स महासंघ वाराणसी मण्डलके मण्डल सचिव श्री ईश्वर शरन तथा श्री ध्यानप्रकाश राय संस्थापक डिप्लोमा इंजीनियर्स महासंघके साथ सदस्योंसे सम्पर्क अभियान करके लौटनेके बाद बताया कि ४ अप्रैल १९७७की स्मृति दिवस सफलतापूर्वक मनाया गया तथा इस मण्डलके सभी जनपदके जिलाधिकारीके माध्यमसे राज्यपालको मांग-पत्र दिया गया। उन्होंने इस मण्डलके सभी सदस्योंसे अनुरोध किया है कि सभी डिप्लोमा इंजीनियर १९ अप्रैलको आकस्मिक अवकाश लेकर अपने जनपद मुख्यालयपर डिप्लोमा इंजीनियर्स दिवस मनायें।

...पुर, १६ अप्रैल। जनता ...ध्यक्ष श्री कालीचरनयादव ...पुलिस अधीक्षकसे मिलकर ...ज, सैदपुर और नन्दगंज ...त्रोंमें बढ़ रही पुलिसकी मन-...ड़क गतिविधियोंपर ...की।

...शादियाबादकी विशेष ...र्चा की और कहाकि लोगों ...मुकदमोंमें फंसाना, भ्रस्त ...अवांछनीय तत्वों ...ले लोगों ...बढ़ती जा ...शिकायतें नंद-...रमें भी मिलीहैं। ...होंने कहाकि इस तरहकी ...पर अंकुश लगानेके लिएकदम ...जाना चाहिये।

...मुख्यमंत्री...

गाजीपुर, १६... श्री जैनुल बशरने गा... की हैं जिससे कि नग... कम की जा सके।

श्री बशर आज ... नगर तथा जिलेकीसमस्... कर रहे थे। आपने ... कांग्रेस विधायकों तथा... जनोंको एक प्रतिनिधि... मुख्यमंत्रीसे मिलकर ... देगा।

आपने बताया कि... में पर्याप्त पेयजलकी ... अतिरिक्त साधन देने,... व्यवस्था करने, ग्रामीण... पेयजल संकटका स्थ... करने, काजीटोला ... टैक्ससे मुक्त करने, ... जलकी व्यवस्था कर... परमेठके पास पुल ... करनेकी मांग की गय...

आपने कहा कि ... सड़के रख-रखावके ... हो रही हैं। कुछ सड़... है उनपर तुरन्त का... चाहिये।

बाराचवर और ... भी लघु सीमांत ...

...ग्रौर रची हथाना क्षेत्रोंमें

हांके
प्रेस-
ग्रही
ज्ञापन

नगर
लिए
उचित
उत्पन्न
ाधान
टोल
में पेय-
दीपर
शीघ्रता

सहायता दी जाय ...
कारी देयोंके वसूली माफ की जाय।

श्री वशरने इस बातपर गहरी चिंता व्यक्त की है कि बहुतसे स्थानों पर हरिजनों तथा कमजोर वर्गके लोगोंको परेशान किया जा रहा है, क्योंकि उन्होंने पिछले चुनावमें या तो कांग्रेसको मत दिया या मत देनेको कोशिश की।

श्री वशरने आज यहां पत्रकारों को बताया कि इन दिनोंमें गाजीपुर संसदीय क्षेत्रमें गांव-गांव घूमकर जन सम्पर्ककर रहा हूं। जमनिया, रेवतीपुर तथा भांवरकोल ब्लाकके कई स्थानोंपर ...

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

६



महाकविकालिदासविरचितं

रघुवंशमहाकाव्यम्

'विमला' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतम्

(द्वितीय-तृतीयसर्गात्मकम्)

व्याख्याकारः—

पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

प्राध्यापक तथा अध्यक्ष (संस्कृत)

श्रीसम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक :
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन, पो० बा० १२९
वाराणसी–२२१००१

प्रथम संस्करण १९७६

मूल्य ~~४-००~~ रुपया
2/-

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा विद्याभवन
पो० बा० ६९, (बनारस स्टेट बैंक भवनके पीछे)
चौक, वाराणसी–२२१००१

मुद्रक :
चौखम्बा मुद्रणालय
वाराणसी

प्राक्कथन

स विश्ववन्द्यो महतां कवीनां गुरुर्मनीषी कविकालिदासः ।
यत्काव्यपीयूषरसप्रवाहः स्वादामितानन्दमयो हि लोकः ॥

कविकुलकलाधर कविवर कालिदास की कमनीयकलेवर कविता विश्व के किस सहृदय-हृदय को आनन्दमग्न नहीं कर देती ? इनकी कविता में प्रसाद गुण की अगाधता, माधुर्य का मधुर सन्निवेश, कोमलकान्तपदावली का प्राचुर्य, उपमा की अपूर्वता, अलङ्कारों की रमणीयता, छन्दों की छटा और भावसौष्ठव पर्याप्तमात्रा में विद्यमान हैं। इनके काव्यों को जिस दृष्टि से देखा जाय उसी से काव्यकला की कमनीयता प्रगट होती है। इनकी कविता में सरस, सरल, सुबोध तथा सुन्दर शब्द एवं भावों का साम्राज्य, सहृदयों की तो बात ही क्या है, साधारण मनुष्यों के मन को भी मुग्ध कर देता है। व्यंग्यार्थप्रतिपादन की विलक्षण शैली, रसप्रकर्ष का प्रकाशन, विस्तृत विषय का थोड़े में वर्णन, वर्ण्य विषय को सुन्दर क्रम से रखकर रोचक बनाना, स्वाभाविक भाव के द्वारा लोकोत्तरानन्दप्रदान का ढंग आदि कालिदास की कविता के विशेष गुण हैं।

कालिदास संस्कृत साहित्य के अद्वितीय महाकवि माने जाते हैं। इनकी कविता की मधुरिमा के सामने अन्य कवियों की कविता फीकी पड़ जाती है। आपने जैसा मानवहृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों का निरीक्षण किया है वैसा अन्य कवियों ने नहीं। कालिदास अन्तर तथा बाह्य दोनों जगत् के सूक्ष्म निरीक्षक कवि हैं।

यों तो कालिदास ने अपनी रचनाओं में स्थान-स्थानपर सभी रसों का सन्निवेश किया है, पर ये प्रधान रूप से शृङ्गार रस के रसिक कवि हैं। इनकी रचनाओं में शृङ्गार रस ओत-प्रोत है। इनके काव्योंमें सम्भोग शृङ्गार का प्रकाशमान रूप तथा विप्रलम्भ शृङ्गार की करुणामूर्ति पाठक एवं श्रोताओं के हृदय को चमत्कृत कर देते हैं। मेघदूत में विप्रलम्भ शृङ्गार और कुमारसम्भव में सम्भोग शृङ्गार का प्राचुर्य है। सम्भोग शृङ्गार की अपेक्षा इनका विप्रलम्भ शृङ्गार उच्चकोटि का होता है। मेघदूत का उदाहरण देखिए—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥

पर्वत के चट्टानों पर गौरिकादि धातुओं से प्रणयकुपिता अपनी प्रियतमा की मूर्ति बनाकर क्षमा के लिए उसके चरणों पर गिरने का प्रयत्न करते समय अश्रुप्रवाह उमड़ आने से कल्पित सम्भोग में भी बाधा पड़ने के कारण क्षुब्धहृदय यक्ष का क्रूर कृतान्तविषयक उपालम्भ पढ़कर किस सहृदय का हृदय व्यथित नहीं हो उठता है ? विरहिणी मेघ को

दूत बनाकर अपनी प्रियतमा के पास प्रेममय सन्देश भेजनेवाले यक्ष के प्रेमोन्माद को पढ़कर कालिदास की काव्यकला की प्रशंसा किए बिना कौन रह सकता है ?

कालिदास के करुणरस का वर्णन भी स्वाभाविक होता है। कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग में शङ्कर की क्रोधाग्नि से कामदेव के भस्मसात् हो जाने पर रति का विलाप तथा रघुवंश के अष्टम सर्ग में आकाश से गिरी हुई पुष्पमाला के आघात से इन्दुमती के मर जाने पर अज का विलाप करुण रस के मर्मस्पर्शी उदाहरण हैं। इन्दुमती के मर जाने पर अज विलाप करते हुए कहते हैं—

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥

कुमारसम्भव में भगवान् शङ्कर के ललाटस्थ तृतीय नेत्र से निर्गत अग्नि से भस्मासात् हुए अपने पति के शरीर को देखकर रति विलाप करती हुई कहती है—

शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला को अपने पति के घर जाते समय कवि ने ऐसा मर्मस्पर्शी करुण रस का चित्र अङ्कित किया है कि विषयसुख से विमुख कण्व जैसे धीर महर्षि भी रोये बिना नहीं रहे—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥

कालिदास की कविता में हास्य रस भी ऊँचे दर्जे का है। इनकी कविता पढ़ कर पाठक मुस्करा देता है, ठहाके की हँसी नहीं हँसता। कुमारसम्भव महाकाव्य के पञ्चमसर्ग में पार्वती के आश्रम पर आकर भगवान् शङ्कर की निन्दा करता हुआ कपटवटु पार्वती का उपहास करता हुआ कहता है—

इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया ।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनःस्मेरमुखो भविष्यति ॥

प्रकृति के साथ कालिदास की अपूर्व सहानुभूति है। प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन जैसा इन्होंने किया है वैसा संस्कृत जगत् का कोई अन्य कवि नहीं कर पाया है। इन्होंने प्रकृति के अनुपम दृश्यों का सच्चा चित्र खींचा है। ये कोमल रूप के उपासक हैं, भवभूति के समान उग्र रूप में इनका प्रेम नहीं है। ये प्रायः शान्त तपोवन, नदीतट, उपवन, प्रासाद, भ्रमर, मृग तथा कोकिल आदि के वर्णन करने में अपना सौभाग्य समझते हैं। इन्हें विन्ध्याचल पर्वत की अपेक्षा हिमालय से अधिक प्रेम है। इन्होंने अपने कुमार-

संभव में हिमालय का सजीव वर्णन किया है। इन्हें ६ ऋतुओं में ग्रीष्म और वसन्त ऋतु बहुत प्रिय हैं।

जहाँ पाश्चात्य कवियों के प्रकृतिवर्णन नग्न होते हैं वहां भारतीय कवियों का प्रकृति-वर्णन अलंकृत होता है। पाश्चात्य कवि बिना किसी आवरण के प्रकृति को उसके असली रूप में उपस्थित कर देते हैं, परन्तु भारतीय कवि प्रकृति को मनोरम मुग्धकारी विविध आभूषणों से सुसज्जित कर पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हैं। महाकवि कालिदास में इस अलंकृत वर्णनशैली की ही निपुणता है। इतना ही नहीं इनके प्रकृति-वर्णन में वैज्ञानिक ज्ञान का पर्याप्त परिचय मिलता है।

रघुवंश के नवम सर्ग में वायु से हिलाई गई लता को लक्ष्य कर वसन्त ऋतु का कैसा मनोरञ्जक वर्णन है—

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः॥

स्त्री और पुरुषों के विविध मनोभावों का इन्हें पूर्ण ज्ञान है, उसे व्यक्त करने के लिए इन्होंने अभिधा शक्ति का प्रयोग न कर व्यंजना शक्ति से ही काम लिया है। इससे इनकी कविता में और भी चमत्कार आ जाता है।

जब अङ्गिरा ऋषि हिमालय के पास आकर कहने लगे कि अपनी पुत्री पार्वती का विवाह भगवान् सदाशिव के साथ कर दीजिए। उस समय पार्वती का वर्णन करते हुए अन्तर्जगत् के पारखी कालिदास कहते हैं—कि अङ्गिरा ऋषिके इस प्रकार कहते समय अपने पिता हिमालय के पास खड़ी हुई पार्वती लज्जावश मुँह नीचे करके हाथ में लिए लीलाकमल के पत्रों को गिनने लगी—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

इस श्लोक में कवि ने लज्जा शब्द का प्रयोग नहीं किया है; किन्तु लज्जा के उदय होने पर पार्वती ने जो कार्य किया है, उसी का वर्णन किया गया है, वही कार्य हृदयगत लज्जाभाव को व्यक्त कर देता है।

पर्वतों में हिमालय, नगरियों में उज्जयिनी, देवताओं में शिव, छन्दों में मन्दाक्रान्ता, अलङ्कारों में उपमा, रसों में श्रृङ्गार और ऋतुओं वसन्त कालिदास को परम प्रिय थे।

संस्कृत साहित्य के लक्षणकार आचार्यों ने गौडी, पाञ्चाली, वैदर्भी और लाटी नाम की चार रीतियाँ तथा माधुर्य, ओज और प्रसाद ये ३ गुण माने हैं। गौडी रीति में बड़े-बड़े समास तथा पाञ्चाली में छोटे-छोटे समास होते हैं। वैदर्भी रीति में समास प्रायः नहीं के बराबर होते हैं। गौडी में ओज गुण, पाञ्चाली में माधुर्य गुण और वैदर्भी में प्रसाद गुण की प्रधानता होती है।

कालिदास की कविता में वैदर्भी रीति और प्रसाद गुण ओतप्रोत हैं। प्रसाद गुण के प्राधान्य होने के कारण कालिदास की कविता शीघ्र ही समझ में आ जाती है।

कालिदास का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। इनकी भाषा व्याकरण से परिष्कृत सरल, सरस एवं सुबोध होती है। ये—'च. तु. हि. वै. किल. खलु आदि का प्रयोग केवल पाद की पूर्ति के लिए नहीं करते हैं; किन्तु उनका जहाँ प्रयोग करते हैं वहाँ वे सार्थक होते हैं। इनके शब्द नपे-तुले होते हैं और इनके वाक्यों में क्रियापद प्रायः स्पष्ट होते हैं। ये किसी बात को घुमा-फिरा कर कहने की अपेक्षा सीधे कह देना अधिक पसन्द कहते हैं। थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ व्यक्त करने की प्रवृत्ति इनमें विशेपरूप से दीख पड़ती है।

जैसे भिन्न-भिन्न वर्णों के उच्चारण के लिए भिन्न-भिन्न कण्ठ-ताल्वादि के आघातों के भेद हैं और भिन्न-भिन्न वर्ण भिन्न-भिन्न रस, भाव एवं अलङ्कारों के व्यञ्जक हैं वैसे ही विभिन्न रसों को व्यक्त करने के लिए विभिन्न छन्द भी हैं। शृङ्गार रस के व्यञ्जक वर्णों के द्वारा ही शृङ्गार रस की पुष्टि तथा वीर रस के व्यञ्जक वर्णों से वीर रस की पुष्टि हो सकती है, अन्य वर्णों से नहीं।

कालिदास का छन्द-विषयक ज्ञान भी गम्भीर और पूर्ण है। इन्होंने अपने काव्यों में प्रायः सभी प्रमुख छन्दों का प्रयोग किया है। ये छन्दों का चुनाव रस और वर्ण्य वस्तु के अनुकूल ही करते हैं। कालिदास मन्दाक्रान्ता छन्द के सिद्धहस्त कवि माने जाते हैं। इन्होंने अपने खण्ड काव्य मेघदूत को केवल मन्दाक्रान्ता छन्द में ही लिखा है।

प्रत्येक कवियों में किसी न किसी विषय की खास विशेषता रहती है। कविवर कालिदास उपमा अलंकार के आचार्य माने जाते हैं। तत्सत् कवियों की विशेषता व्यक्त करते हुए एक आलोचक ने बहुत ही ठीक कहा है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं त्रयोऽप्येकैकतोऽधिकाः ॥

कालिदास की उपमायें एक से एक बढ़कर हैं। इन्होंने नई-नई उपमाओं की उद्भावना की है। इनकी उपमाओं के विशेष चमत्कार का कारण यह है कि प्रायः इनकी उपमायें अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् दोनों से ली गई हैं। इन्होंने उपमाओं में उपमान तथा उपमेय के वचन और लिंग तक का भी विचार किया है। रघुवंश के षष्ठ सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर में उपस्थित राजाओं की दशा का वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रियंयं व्यतीयाय पतिम्बरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥

इस श्लोक में इन्दुमती की उपमा स्त्रीवाची दीपशिखा शब्द से दी गई है और राजा की उपमा पुंलिङ्ग अट्ट शब्द से दी गई है। लिंग की समता के साथ-साथ वचन की समता भी दर्शनीय है।

रघुवंश के द्वितीय सर्ग में जब दिलीप वसिष्ठजी की लाल नन्दिनीको चराकर लौटते हैं और सुदक्षिणा उनकी प्रतीक्षा करती हुई स्वागत करने के लिए खड़ी है, दोनों के बीच में स्थित नन्दिनी की शोभा का वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं—

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥

यहाँ राजा की उपमा दिन से, सुदक्षिणा की उपमा रात्रि से और लालनन्दिनी की उपमा लाल सन्ध्या से दी गई है। और भी देखिए—

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥

शरीर की दुर्बलता के कारण कुछ ही आभूषण पहनी हुई उस सुदक्षिणा की लोध्रपुष्प सदृश पीले मुख से ऐसी शोभा हुई जैसे प्रातःकाल टिमटिमाते हुए ताराओं से युक्त रात की शोभा पीले वर्ण के चन्द्रमा से होती है। यह भाव व्यक्त करने के लिए कवि ने लोध्रपाण्डु मुख से चन्द्रमा की एवं एकाध तारा युक्त प्रभातकल्पशर्वरी से सुदक्षिणा की उपमा देते हुए कितने सुन्दर ढङ्ग से पूर्णोपमा व्यक्त की है। इस प्रकार कालिदास की कविता में स्थल-स्थल पर अनूठी उपमा का चमत्कार मिलता है। इनकी उपमाओं में स्वाभाविकता का उत्कर्ष है जिससे पाठक का हृदय सहसा चमत्कृत हो उठता है।

रघुवंश की विशेषता

रघुवंश में महाकाव्य के सभी लक्षण घटते हैं। इसके १९ सर्गों में कवि कालिदास ने इक्ष्वाकुवंशी महाप्रतापी राजा दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक २९ राजाओं का आदर्शमय वर्णन किया है। यद्यपि इस काव्य की कथा वाल्मीकि रामायण, महाभारत तथा पद्म आदि पुराणों में पायी जाती है, पर वाल्मीकि से अधिक समता :: फिर भी वाल्मीकिरामायण और रघुवंश के वंशक्रम ः महान् अन्तर है। वा० रा० आदि काण्ड सर्ग ७० के १९–४३ श्लोकों के अनुसार दिलीप से राम तक १८ राजाओं का नाम निर्दिष्ट है; किन्तु रघुवंश में दिलीप से राम तक ५ ही पीढ़ी पड़ती हैं (१) दिलीप, (२) रघु, (३) अज, (४) दशरथ और (५) राम।

रघुवंश महाकाव्य की संस्कृत व्याख्याओं में मल्लिनाथ की सञ्जीविनी व्याख्या सर्वोत्कृष्ट तथा प्रामाणिक मानी जाती है। अतः इस संस्करण में सञ्जीविनी व्याख्या भी दी गई है और परीक्षार्थी छात्रों की सुविधा के लिए अन्वय संस्कृत ं. व्याख्या, समास, भावार्थ तथा हिन्दी में भाषार्थ भी दे दिया गया है जिससे यह ग्रन्थ और भी सुबोध एवं उपादेय हो गया है। आशा है छात्रवर्ग व्याख्याकार तथा प्रकाशक के प्रयास को अवश्य सफल बनायेगा। इतिशम्।

विजयादशमी
सं० २०३२

वशंवद
श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
श्रीसम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

द्वितीय सर्ग का कथासार

रात में पर्णशाला के अन्दर विश्राम करलेने के बाद प्रातःकाल प्रजापालक राजा दिलीप ने वसिष्ठजीकी नवप्रसूता उस नन्दिनी गौ को वन में चराने के लिए बन्धन से खोल दिया, जिसकी पूजा रानी सुदक्षिणा ने चन्दन एवं माला से कर दी थी और दूध पी चुकने के बाद जिसका बछड़ा बांध दिया गया था। पतिव्रताओं में अग्रगण्य दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा ने नन्दिनी के खुरों के रखने से पवित्र धूलि वाले मार्ग का उसी प्रकार अनुगमन किया जैसे मनुस्मृति श्रुति का अनुगमन करती है। दयालु राजा दिलीप सुकुमारी सुदक्षिणा एवं नौकरों को वापस लौटाकर दूध भरे स्तनों के भार से धीरे-धीरे चलने वाली नन्दिनी की सेवा स्वयं करने लगे। राजा नन्दिनी के इच्छानुसार रुकने पर रुकते थे, चलने पर चलते थे, बैठने पर बैठते थे, पानी पीनेपर पानी पीते थे—इस प्रकार उन्होंने छाया की भांति उस नन्दिनी का अनुसरण किया। छत्र चामर मुकुट आदि राजचिह्नों से रहित होने पर भी वे अपने असाधारण तेज से राजा प्रतीत होते थे और प्रत्यञ्चा चढ़े हुए धनुष को लिए वसिष्ठ जी की होमधेनु नन्दिनी की रक्षा के बहाने दुष्ट जङ्गली जानवरों को मानों दण्ड देने के लिए वन में घूम रहे थे। बगल के वृक्षों ने मतवाले पक्षियों के शब्दों से उनका जयकार किया, लताओं ने उनके ऊपर फूल बिखेरा, हरिणों ने निडर होकर उन्हें देखते हुए अपने विशाल नेत्र का फल पा लिया, मन्द, सुगन्ध एवं शीतल वायु ने उनकी सेवा की और उनके वन में प्रवेश करते ही वनाग्नि शान्त हो गयी।

शाम हो जाने पर नन्दिनी अपने संचार से वनभूमि को पवित्र कर आश्रम पर जाने लगी और दिलीप भी वन का दृश्य देखते हुए उसके पीछे-पीछे चले। आश्रम के पास पीछे राजा, मध्य में नन्दिनी आगे अगवानी करने आई हुई सुदक्षिणा हो गयी, इस प्रकार दिलीप-सुदक्षिणा के बीच नन्दिनी की शोभा रात-दिन के मध्य में वर्तमान सन्ध्या के समान हो गयी। सुदक्षिणाने नन्दिनी की पुनः पूजा की। बछड़े के लिए उत्कण्ठित होने पर भी उसने उसे स्वीकार कर लिया। अतः वे दोनों बड़े प्रसन्न हुए। गुरु एवं गुरुपत्नी का प्रणाम कर सन्ध्याविधि के समाप्त होने पर दिलीप दूध दूह लेने के बाद बैठी हुई नन्दिनी की पुनः सेवा करने लगे। नन्दिनी के पास दीपक तथा उसके भोज्य पदार्थ रखे हुए थे, उसके सो जाने पर राजा और सुदक्षिणा भी सो जाते थे और जगने पर जग जाते थे। इस प्रकार स्त्री के साथ नन्दिनी की सेवा करते हुए दिलीप के इक्कीस दिन बीत गये।

बाइसवें दिन जब राजा पर्वतीय दृश्य देखने लगे कि नन्दिनी भी राजा के हृदय को जाननेके लिए हिमालय की एक कन्दरा में घुस गयी और शेर ने उसपर आक्रमण कर दिया। उसका करुण क्रन्दन सुनकर अन्दर जाने पर राजा ने देखा कि उसके ऊपर शेर बैठा है और नन्दिनी कातर होकर उनकी ओर देख रही है। यह देखते ही राजा ने शेर को मारने के लिए तरकस से वाण निकालकर उसपर प्रहार करना ही चाहा कि उनका हाथ

रुक गया और वे चित्रलिखित से निस्तब्ध हो गये। बाद अपने पुरुषार्थ को व्यर्थ समझकर आश्चर्य में पड़े हुए और मन्त्र एवं औषधि के बलसे शक्तिक्षीण सांप के समान भीतर ही भीतर छटपटाते हुए राजा को देखकर मनुष्य की वाणी में शेर ने हँसते हुए कहा-राजन् ! मुझे मारने के लिए तेरा प्रयास व्यर्थ है, मैं भगवान् शङ्कर का सेवक हूँ, जो तुम्हारे भी मान्य हैं। एक बार जङ्गली हाथियों ने इन देवदारु वृक्षों के वल्कल को खजली शान्त करने के लिए अपने कपोलस्थल की रगड़ से छुड़ा दिया था, जिसे देखकर पार्वती जी को बड़ा ही दुःख हुआ, क्योंकि उन्होंने उन्हें अपने पुत्र के समान पाला था। उसी समय से शिवजी ने मुझे इसकी रखवारी के लिए नियुक्त कर आदेश दिया कि जो जन्तु तुम्हारे समीप आ जाय, उसे खाकर तुम अपना निर्वाह करना। अतः मैं इसे खाऊँगा। तुम लाज छोड़कर लौट जाओ, तुमने गुरुभक्ति का प्रदर्शन कर दिया, जो कार्य अशक्य है, उसमें किसी का दोष नहीं। यह सुनकर राजा ने अपनी अपमानभावना को ढीला कर दिया और वे बोले—हे मृगेन्द्र ! शिवजी तो मेरे मान्य हैं ही, पर गुरु की यह गाय भी उपेक्षणीय नहीं है, इसका छोटा बछड़ा दूध पीने के लिए उत्सुक होगा। अतः मुझे आप खाकर अपनी क्षुधा निवृत्ति कीजिए और इसे छोड़ दीजिए।

यह सुनकर वह शेर मुस्करा कर दिलीप से पुनः कहा—राजन् ! तुम मेरे विचार से बड़े विवेक-शून्य मालूम पड़ते हो, क्योंकि एक क्षुद्र गौ के लिए इतना बड़ा साम्राज्य, नयी अवस्था एवं सुन्दर शरीर का त्याग करना चाहते हो। तुम्हारी कृपा से एक नन्दिनी मात्र का कल्याण होगा, यदि तुम जीते रहोगे तो अनेक प्रजाओं का पिताके समान निरन्तर पालन करते रहोगे। यदि गुरु से डरते हो तो अधिक दूध देने वाली अनेक गौओं को देकर उनका क्रोध शान्त कर सकते हो। अतः अपने शरीर का त्याग न करो, इस पार्थिव स्वर्ग का भोग भोगो। यह कह कर सिंह के मौन हो जाने पर दिलीप ने कहा—मृगराज ! नाश से रक्षा करना क्षत्रिय का प्रमुख कर्त्तव्य है, उसके विरुद्ध प्राण धारण से क्या लाभ है ? गुरु जी के क्रोध की शान्ति, अन्य गायों के दान से सम्भव नहीं, इस नन्दिनी को कामधेनु के समान समझो, इस पर तो तुम्हारा आक्रमण शिवजी के प्रताप से हुआ है। अतः मैं इस गौके बदलेमें अपने शरीर को तुम्हें देकर इसकी रक्षा करना आवश्यक समझता हूँ। इस प्रकार तुम्हारी भूख भी मिट जायेगी और गुरुजी का होम आदि कार्य भी चलता रहेगा। आप स्वयं पराधीन हो, पराधीनों की बात जानते ही हो, रक्षणीय वस्तु को नष्ट कर सेवक स्वयं कुछ भी आघात न पाकर स्वामी के सामने संकोच के मारे जा नहीं सकता। मुझपर दया करो, मुझे प्राण का मोह नहीं है, क्योंकि मेरे जैसे यशस्वी व्यक्ति को इस अवश्य विनाशशील शरीर पर आस्था नहीं रहती। अपना शरीर समर्पित कर गौ की रक्षा करना परम धर्म है। यही मैं चाहता हूँ। विद्वान् कहते हैं—बात-चीत से भी मित्रता हो जाती है। इस प्रकार हम दोनों की मित्रता हो चुकी। अतः मित्र होकर तुम मेरी प्रार्थना भंग न करो। यह सुन शेर को स्वीकार कर लेने के बाद राजा का बाहुस्तम्भन शिथिल हो गया, उन्होंने अस्त्र त्याग कर अपने शरीर को मांसपिण्ड के समान शेर के सामने भेंट कर दिया। नीचे मुख किए सिंह के भयंकर आक्रमण की प्रतीक्षा करते हुए दिलीप के ऊपर

आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी और नन्दिनी बोल उठी—पुत्र ! उठो, नन्दिनी के इस अमृतमय वचन को सुनकर उठने पर राजा ने केवल दयालु माता के समान नन्दिनी को देखा पर शेर को नहीं देखा। इससे उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। तब उस विस्मयापन्न राजा से नन्दिनीने कहा—वत्स ! ऋषि के प्रभाव से मेरा यमराज भी कुछ नहीं कर सकते हैं, तो दूसरे जन्तुओं की क्या बात है ? मैंने तो माया से शेर बना कर तुम्हारी परीक्षा की है। तेरी गुरुभक्ति और जीवदया से मैं प्रसन्न हूँ, वर मांगो, क्या चाहते हो ? मुझे केवल दूध देने वाली गौ न समझो, अपितु प्रसन्न कामधेनु समझो। यह सुन राजा ने हाथ जोड़कर सुदक्षिणा में वंश को चलाने वाला पुत्र मांगा। नन्दिनी ने तथास्तु कह कर वरदान दे दिया और पत्ते के दोने में दूहकर दूध पीने के लिये आदेश भी दे दिया, किन्तु राजाने कहा—माँ, बछड़े के पीने और गुरुजी के होम के बाद मैं दूध पीऊँगा। बाद प्रसन्न हुई गौ के साथ कन्दरा से निकलकर राजा ने आश्रम पर पहुँच कर यह वृत्त वसिष्ठजी से निवेदन किया और बड़ी प्रसन्नता से अपनी पत्नी सुदक्षिणा से भी कह सुनाया। यद्यपि राजा की प्रसन्नता से उसका आभास उन्हें हो चुका था, बाद गुरुजीकी आज्ञासे बछड़े और हवन से बचे हुए दूध का पान किया। दूसरे दिन गोव्रत की पारणा के बाद गुरु से अशीर्वाद ले और गुरु गुरुपत्नी तथा वत्ससहित नन्दिनी की प्रदक्षिणा कर के वे सुदक्षिणा के साथ रथ से अपनी राजधानी को प्रस्थान किये। अयोध्या पहुँचने पर प्रजाओं ने बड़ी उत्कण्ठा से उनका स्वागत किया। बाद मन्त्रियों से राज्यभार लेकर वे धर्मपूर्वक प्रजापालन करने लगे। अनन्तर जिस प्रकार आकाशस्थली अत्रि मुनि के नेत्र से निर्गत चन्द्रमा को धारण करती है, और देवनदी गङ्गा ने अग्नि से प्रक्षिप्त स्कन्द को उत्पन्न करने वाले शिवजी के तेज को धारण किया था उसी प्रकार सुदक्षिणा ने दिलीप के वंशवर्द्धक गर्भ को धारण किया, जिसमें लोकपालों का अंश भी सम्मिलित था।



॥ श्रीः ॥

रघुवंशमहाकाव्यम्

संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

—:०:—

द्वितीयः सर्गः

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ यशोधनः प्रजानाम् अधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्यां पीतप्रतिबद्धवत्सां ऋषेः धेनुं वनाय मुमोच ।

आशासु राशीभवदङ्गवल्लीभासैव दासीकृतदुग्धसिन्धुम् ।
मन्दस्मितैर्निन्दितशारदेन्दुं वन्देऽरविन्दासनसुन्दरि ! त्वाम् ॥

सञ्जीविनी—अथेति । अथ निशानयनानन्तरं यशोधनः प्रजानामधिपः प्रजेश्वरः प्रभाते प्रातःकाले जायया सुदक्षिणया प्रतिग्राहिते स्वीकारिते गन्धमाल्ये यया सा जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या, तां तथोक्ताम् । पीतं पानमस्यास्तीति पीतः पीतवानित्यर्थः । 'अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः । 'पीता गावो भुक्ता ब्राह्मणाः' इति महाभाष्ये दर्शनात् । पीतः प्रतिबद्धो वत्सो यस्यास्तामृषेर्धेनुं वनाय वनं गन्तुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य' इत्यनेन चतुर्थी । मुमोच मुक्तवान् । जायापदसामर्थ्यात्सुदक्षिणायाः पुत्रजननयोग्यत्वमनुसन्धेयम् । तथा हि श्रुतिः—'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते । तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः' । इति । यशोधन इत्यनेन पुत्रवत्ताकीर्तिलोभाद्राजानर्हे गोरक्षणे प्रवृत्त इति गम्यते । अस्मिन्सर्गे वृत्तमुपजातिः—"अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति ।

व्याख्या—अथ = निशानयनानन्तरम्, यशोधनः = कीर्तिवित्तः, प्रजानां =

जनानाम्, अधिपः = स्वामी, राजा दिलीपः, प्रभाते = प्रातःकाले, जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्यां = सुदक्षिणास्वीकारितस्रक्चन्दनाम् पीतप्रतिवद्धवत्सां = दुग्धपानानन्तरनिवद्धवालवत्सकाम्, ऋषेः = महर्षेः स्वकुलगुरोः वसिष्ठस्य, धेनुं = गां नन्दिनीम्, वनाय = वनं गन्तुम्, मुमोच = मुक्तवान् ।

समासः—यश एव धनं यस्य स यशोधनः । गन्धश्च माल्यं च गन्धमाल्ये जायया प्रतिग्राहिते गन्धमाल्ये यया सा जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या तां जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् । आदौ पीतः पश्चात् प्रतिबद्धः वत्सो यस्याः सा पीतप्रतिबद्धवत्सा तां पीतप्रतिबद्धवत्साम् ।

भावार्थः—अथ राजा दिलीपः प्रातःकाले दुग्धपानानन्तरं वत्सं बद्ध्वा स्वधर्मपत्न्या सुदक्षिणया अर्चितां नन्दिनीं वनगमनाय बन्धनात् मुक्तवानिति भावः।

भाषार्थ—रात्रि के बीत जाने पर यश के धनी, प्रजापालक, राजा दिलीप ने प्रातःकाल सुदक्षिणा द्वारा दी हुई गन्ध-माला को ग्रहण करने वाली, दूध पीकर बँधे हुए बछड़ेवाली महर्षि वसिष्ठ की नन्दिनी गौ को वन में चराने के लियें खोल दिया ॥ १ ॥

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ २ ॥

अन्वयः—अपांसुलानां धुरि कीर्तनीया मनुष्येश्वरधर्मपत्नी तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुं मार्गं स्मृतिः श्रुतेः अर्थम् इव अन्वगच्छत् ।

सञ्जीविनी—तस्या इति । पांसवो दोषा आसां सन्तीति पांसुलाः स्वैरिण्यः 'स्वैरिणी पांसुला' इत्यमरः । 'सिध्मादिभ्यश्च' इति लच्प्रत्ययः । अपांसुलानां पतिव्रतानां धुर्यग्रे कीर्त्तनीया परिगणनीया । मनुष्येश्वरधर्मपत्नी खुरन्यासैः पांसवः पवित्राः यस्य तम् । 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः तस्या धेनोर्मार्गम् । स्मृतिर्मन्वादिवाक्यं श्रुतेर्वेदवाक्यस्यार्थमभिधेयमिव अन्वगच्छदनुसृतवती च । यथा स्मृतिः श्रुतिक्षुण्णमेवार्थमनुसरति तथा सोऽपि गोखुरक्षुण्णमेव मार्गमनुससारेत्यर्थः । धर्मपत्नीत्यत्राश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः प्रकृतिविकारभावात् । पांसुलपथप्रवृत्तावप्यपांसुलामिति विरोधालङ्कारो ध्वन्यते ।

व्याख्या—अपांसुलानां = पतिव्रतानाम्, धुरि = अग्रे, कीर्तनीया = गणनीया मनुष्येश्वरधर्मपत्नी = दिलीपराजमहिषी सुदक्षिणा, खुरन्यासपवित्रपांसुं = खुरविन्यासपवित्ररेणुम्, तस्याः = वसिष्ठधेनोः, मार्गं = पन्थानम्, स्मृतिः = धर्मशास्त्र

श्रुतेः—वेदस्य, अर्थम् = अभिधेयम्, इव = यथा, अन्वगच्छत् = अनुससार।

समासः—पांसवो दोषः सन्ति आसामिति पांसुला न पांसुला अपांसुलाः तासाम् अपांसुलानाम्। मनुष्याणामीश्वरः मनुष्येश्वरः तस्य धर्मपत्नी मनुष्येश्वर-धर्मपत्नी। खुराणां न्यासाः खुरन्यासाः तैः पवित्राः पांसवो यस्यासौ खुरन्यास-पवित्रपांसुः तं खुरन्यास पवित्रपांसुम्।

भावार्थः—पतिव्रतासु नारीषु अग्रगण्या सुदक्षिणा नाम्नी राज्ञो दिलीपस्य भार्या यथा मन्वादिस्मृतिः श्रुतेः अर्थम् अनुसरति तथैव नन्दिन्या मार्गम् अनुसृतवती।

भाषार्थ—पतिव्रताओं में अग्रगण्य, राजा दिलीप की धर्मपत्नी सुदक्षिणा ने उस नन्दिनी के खुरों के रखने से पवित्र धूलिवाले मार्ग में वेद के अर्थ के पीछे स्मृति के समान चली॥ २॥

निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्॥ ३॥

अन्वयः—दयालुः यशोभिः सुरभिः राजा तां दयितां निवर्त्य पयोधरीभूतचतुः-समुद्रां सौरभेयीं गोरूपधरां उर्वीम् इव जुगोप।

सञ्जीविनी—निवर्त्येति। दयालुः कारुणिकः। 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः। 'स्पृहिगृहि'-इत्यादिनाऽऽलुच्प्रत्ययः। यशोभिः सुरभिर्मनोज्ञः। 'सुरभिः स्यान्मनोज्ञेऽपि' इति विश्वः। राजा तां दयितां निवर्त्य सौरभेयीं कामधेनुसुतां नन्दिनीम्। धरन्तीति धराः। पचाद्यच्। पयसां धराः पयोधराः स्तनाः। 'स्त्रीस्तनाब्दौ पयोधरौ' इत्यमरः। अपयोधराः पयोधराः सम्पद्यमानाः पयोधरी-भूताः। अभूततद्भावे च्विः। 'कुगतिप्रादयः' इति समासः। पयोधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्यास्ताम्। 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेकपदार्थग्रहणसामर्थ्यात्त्रिपदो बहु-व्रीहिः। गोरूपधरामुर्वीमिव जुगोप ररक्ष। भूरक्षणप्रयत्नेनेव ररक्षेति भावः। धेनुपक्षे—पयसा दुग्धेनाधारीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्याः सा तथोक्ताम्। दुग्ध-तिरस्कृतसागरामित्यर्थः।

व्याख्या—दयालुः = कारुणिकः, यशोभिः = कीर्तिभिः, सुरभिः = मनोज्ञः, राजा = नृपो दिलीपः, तां = पूर्वोक्ताम्, दयितां = स्वप्रियां सुदक्षिणाम्, निवर्त्य = परावर्त्य, पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां = [illegible]तचतुःसागराम्, सौरभेयीं

=सुरभितनयां नन्दिनीम्, गोरूपधरां=धेनुरूपधारिणीम्, उर्वीं=पृथ्वीम् इव=यथा जुगोप=ररक्ष ।

समासः—दयते तच्छीलो दयालुः । सुरभेरपत्यं स्त्रीः सौरभेयी तां सौरभेयीम् । धरन्तीति धराः पयसां धराः पयोधराः, न पयोधरा अपयोधराः अपयोधराः पयोधराः सम्पद्यमानाः पयोधरीभूताः, पयोधरीभूताः चत्वारः समुद्रा यस्या सा पयोधरीभूतचतुःसमुद्रा तां पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम् । धरतीति धरा गोः रूपं गोरूपं गोरूपस्य धरा गोरूपधरा तां गोरूपधराम् ।

भावार्थः—यशस्वी राजा दिलीपः स्वपत्नीं सुदक्षिणामाश्रमं प्रति परावर्त्य गोरूपधारिणीं चतुःसमुद्रां तां पृथिवीमिव विपुलदुग्धदात्रीं नन्दिनीं ररक्ष ।

भाषार्थ—दयालु एवं कीर्तियों से सुशोभित राजा दिलीप प्रिय पत्नी सुदक्षिणा को लौटाकर अपने दूध से चारों समुद्रों को तिरस्कृत करने वाली सुरभि की पुत्री पृथ्वी नन्दिनी को चारों समुद्रों को चार स्तनों के रूप में धारण करनेवाली गौरूपी पृथ्वी के समान रक्षा की ॥ ३ ॥

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥ ४ ॥

अन्वयः—व्रताय धेनोः अनुचरेण तेन शेषः अपि अनुयायिवर्गः न्यषेधि तस्य शरीररक्षा च अन्यतः न । हि मनोः प्रसूतिः स्ववीयगुप्ता (भवति) ।

सञ्जीविनी—व्रतायेति । व्रताय धेनोरनुचरेण न तु जीवनायेति भावः । तेन दिलीपेन शेषोऽवशिष्टोऽप्यनुयायिवर्गोऽनुचरवर्गो न्यषेधि निवर्तितः शेषत्वं सुदक्षिणाऽपेक्षया । कथं तर्ह्यात्मरक्षणमत आह—न चेति । तस्य दिलीपस्य शरीररक्षा चान्यतः पुरुषान्तरान्न । कुतः ? हि यस्मात्कारणान्मनोः प्रसूयत इति प्रसूतिः सन्ततिः स्ववीर्यगुप्ता स्ववीर्येणैव रक्षिता । न हि स्वनिर्वाहकस्य परापेक्षेति भावः ।

व्याख्या—व्रताय=पुत्रार्थं नियमाय, धेनोः=नन्दिन्याः, अनुचरेण=सेवकेन, तेन=राजा दीलीपेन, शेषः अपि=सुदक्षिणातिरिक्तोऽपि, अनुयायिवर्गः=अनुचरवृन्दम्, न्यषेधि=न्यवर्ति. तस्य=राज्ञो दिलीपस्य, शरीररक्षा=देहपालनम्. च=तु, अन्यतः=अन्यस्मात् भृत्यादितः, न=नैव भवति । हि यस्मात् मनोः=वैवस्वतनामकमनोः, प्रसूतिः=सन्ततिः, सूर्यवंशराजान इति यावत् स्ववीर्यगुप्ता=निजपराक्रमरक्षिता भवतीति शेषः ।

समासः—अनु चरतीत्यनुचरः तेन अनुचरेण, अनुयायिनां वर्गः अनुयायि

वर्गः । शरीरस्य रक्षा शरीररक्षा । स्वस्य वीर्यं स्ववीर्यं स्ववीर्येण गुप्ता स्ववीर्यगुप्ता ।

भावार्थः—गुरोः गोः परिरक्षणं खलु ममैव व्रतम्, तत्र परिजनस्य नास्ति प्रयोजनमिति मत्वा राज्ञा दिलीपेन अवशिष्टा अपि भृत्याः परावर्तिताः । तस्य शरीररक्षणार्थं तु नास्ति भृत्यादेरावश्यकता, यतो हि मनुवंशीया राजानो निजपराक्रमेणैवात्मनां रक्षन्ति ।

भाषार्थ—व्रत के लिये नन्दिनी के पीछे चलने वाले राजा दिलीप ने शेष नौकरों को भी लौटा दिया । उनके शरीर की रक्षा के लिये दूसरों की आवश्यकता न थी; क्योंकि मनु की सन्तान अपने पराक्रम से होती है ॥ ४ ॥

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥५॥

अन्वयः—सम्राट् स आस्वादवद्भिः तृणानां कवलैः कण्डूयनैः दंशनिवारणैः अव्याहतैः स्वैरगतैः च तस्याः समाराधनतत्परः अभूत् ।

सञ्जीविनी—आस्वादवद्भिरिति । सम्राट् मण्डलेश्वरः 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्" इत्यमरः । स राजा आस्वादवद्भिः रसवद्भिः स्वादयुक्तैरित्यर्थः । तृणानां कवलैर्ग्रासैः । 'ग्रासस्तु कवलः पुमान्' इत्यमरः । कण्डूयनैः खर्जनैः । दंशानां वनमक्षिकाणां निवारणैः 'दंशस्तु वनमक्षिका' इत्यमरः । अव्याहतैरप्रतिहतैः स्वैरगतैः स्वच्छन्दगमनैश्च । तस्या धेन्वाः समाराधनतत्परः शुश्रूषाऽऽसक्तोऽभूत् । तदेव परं प्रधानं यस्येति तत्परः । 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः ।

व्याख्या—सम्राट् = मण्डलेश्वरः, स = राजा दिलीपः, आस्वादवद्भिः = रसवद्भिः, स्वादयुक्तैः तृणानां = घासानाम्, कवलैः = ग्रासैः, कण्डूयनैः = गालखर्जनैः, दंशानां = वनमक्षिकाणाम्, निवारणैः = दूरीकरणैः, अव्याहतैः = अनिरुद्धैः, स्वैरगतैः = स्वच्छन्दगमनैः, च, तस्याः = नन्दिन्याः, समाराधनतत्परः = शुश्रूषासक्तः, अभूत् = बभूव । मण्डलेश्वरलक्षणं हि 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राडुदाहृतः ॥'

समासः—प्रशस्तः आस्वादः अस्ति एषु आसां वा इति आस्वादवन्तः तैः आस्वादवद्भिः । दंशानां निवारणानि दंशनिवारणानि तैः दंशनिवारणैः । न व्याहतानि अव्याहतानि तैः अव्याहतैः । स्वैरं यथा स्यात्तथा गतानि स्वैरगतानि यद्वा स्वैराणि च तानि गतानि इति स्वैरगतानि तैः स्वैरगतैः । समाराधने तत्परः समाराधनतत्परः ।

भावार्थः—सकलभूमण्डलनृपमण्डलाखण्डलः चक्रवर्ती राजा दिलीपः गात्रसंघर्षणेन, घासग्रासप्रदानेन, वनमक्षिकाद्यपसारणेन, स्वच्छन्दगमनानवरोधेन च नन्दिन्याः शुश्रूषायां संलग्नो बभूव।

भावार्थ—वे चक्रवर्ती राजा दिलीप स्वादिष्ट कोमल घास के कौर से, शरीर खुजलाने से, मक्खी-मच्छरों के उड़ाने से और बिना रुकावट स्वच्छन्द चलने वाली उस नन्दिनी की सेवा में संलग्न थे ॥ ५ ॥

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ ६ ॥

अन्वयः—भूपतिः तां स्थितां स्थितः प्रयातां उच्चलितः निषेदुषीं आसनबन्धधीरः जलं आददानां जलाभिलाषी (सन्) छाया इव तां अन्वगच्छत्।

सञ्जीविनी—स्थित इति। भूपतिस्तां गां स्थितां सतीं स्थितः सन् स्थितिरूर्ध्वावस्थानम्। प्रयातां प्रस्थितामुच्चलितः प्रस्थितः निषेदुषीं निषण्णाम्। उपविष्टामित्यर्थः। 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः, 'उगितश्च' इति ङीप्। आसनबन्ध उपवेशने धीरः स्थित उपविष्टः सन्नित्यर्थः। जलमाददानां जलं पिबन्तीं जलाभिलाषी जलं पिबन्नित्यर्थः। इत्थं छायेवान्वगच्छदनुसृतवान्।

व्याख्या—भूपतिः = पृथिवीपतिः राजा दिलीपः, तां = नन्दिनीम्, स्थितां = अवस्थिताम्, सतीम्, स्थितः = तिष्ठन् सन्, प्रयातां = प्रचलिताम्, उच्चलितः = प्रचलन् गच्छन् सन् निषेदुषीं = उपविष्टाम्, आसनबन्धधीरः = स्थिरतयोपविष्टः सन्, जलं = पानीयम्, आददानां = पिबन्तीम्, जलाभिलाषी = जलं पिबन् सन् (तां वसिष्ठधेनुम्) छाया = प्रतिबिम्बम्, इव = यथा अन्वगच्छत् = अनुजगाम।

समास—भुवः पतिः भूपतिः। आसनस्य बन्ध आसनबन्धः तत्र धीरः आसनबन्धधीरः। आदत्ते इत्याददाना ताम् आददानाम्। जलमभिलषितुं शीलमस्य-जलाभिलाषी। निषसादेति निषेदुषी तां निषेदुषीम्।

भावार्थः—नन्दिनीसेवातत्परो राजा दिलीपः छाया इव तामन्ववर्तत। सा अतिष्ठत् चेत् स्वयमपि अतिष्ठत्, सा चलति चेदयमपि प्रचलति, यदि सा उपविशति तर्हि सोऽप्युपाविशत्, सा जलं पिबतिस्म तदा सोऽपि पानीयं पिबतिस्म। एवं नन्दिनीव सर्वं कुर्वन् तस्या अनुसरणं कृतवानिति तात्पर्यम्।

भावार्थ—राजा दिलीप उस नन्दिनी के ठहरने पर ठहरते हुये, चलने पर चलते हुये, बैठने पर बैठते हुये, पानी पीने पर पानी पीते हुये, छाया के समान उसके पीछे-पीछे चले ॥ ६ ॥

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः ।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥ ७ ॥

अन्वयः—न्यस्तचिह्नाम् अपि तेजोविशेषानुमितां राजलक्ष्मीं दधानः स अनाविष्कृतदानराजिः अन्तर्मदावस्थः द्विपेन्द्र इव आसीत् ।

सञ्जीविनी—स इति । न्यस्तानि परिहृतानि चिह्नानि छत्रचामारादीनि यस्यास्तां, तथाभूतामपि, तेजोविशेषेण प्रभावातिशयेनानुमिताम्, सर्वथा राजैवायं भवेदित्यूहितां राजलक्ष्मीं दधानः स राजा, अनाविष्कृतदानराजिर्बहिरप्रकटितमदरेखः । अन्तर्गता मदावस्था यस्य सोऽन्तर्मदावस्थः, तथाभूतो द्विपेन्द्र इव आसीत् ।

व्याख्या—न्यस्तचिह्नाम् = परित्यक्तं च छत्रचामरादिलक्षणाम्, तेजोविशेषानुमितां = शरीरकान्तिप्रहर्षानुमिताम् । राजलक्ष्मीं = नृपश्रियम्, दधानः = बिभ्राणः, सः = राजा दिलीपः, अनाविष्कृतदानराजिः = अप्रकटितमदरेखः, (अत एव) अन्तर्मदावस्थः = आभ्यन्तरवर्तमानदानदशः, द्विपेन्द्रः = गजराजः, इव = यथा आसीत् = अभूत् ।

समासः—न्यस्तानि चिह्नानि यस्या सा न्यस्तचिह्ना तां न्यस्तचिह्नाम् । राज्ञां लक्ष्मीः राजलक्ष्मीः तां राजलक्ष्मीम् । तेजसः विशेषः तेजोविशेषः तेन अनुमिता तेजोविशेषानुमिता तां तेजोविशेषानुमिताम् । न आविष्कृता अनाविष्कृता, दानस्य राजिः दानराजिः, अनाविष्कृता दानराजिः यस्य येन वा स अनाविष्कृतदानराजिः । मदस्य अवस्था मदावस्था अन्तः—अन्तर्गता मदावस्था यस्य स अन्तर्मदावस्थः । द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबन्तीति द्विपाः द्विपानामिन्द्रः द्विपेन्द्रः ।

भावार्थः—यथा गण्डस्थले मदप्रवाहस्याप्राकट्येऽपि सलीलोद्भ्रान्तगमनादीनां दर्शनात् प्रेक्षकैर्गजस्यान्तर्मदावस्थानुभूयते तथैव सन्ततिप्राप्तये व्रतपालनार्थं राज्ये एव छत्रचामरकिरीटादिकं विहाय वने समागतोऽपि राजा दिलीपः, विलक्षणेन तेजसा शरीरसौन्दर्येण च एष नूनं चक्रवर्ती राजेत्यनुमीयतेस्म ।

भाषार्थ—छत्र-चामरादि-चिह्नों से रहित होते हुये भी विशेष तेज से अनुमान को जानेवाली राजलक्ष्मी को धारण करते हुये वे प्रगट रूप से न दिखाई पड़नेवाली मद रेखा से संयुक्त हाथी के समान मालूम पड़ते थे ॥ ७ ॥

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान् ॥ ८ ॥

अन्वयः—लताप्रदानोद्ग्रथितैः केशैः अधिज्यधन्वा स मुनिहोमधेनोः रक्षापदेशात् वन्यान् दुष्टसत्त्वान् विनेष्यन् इव दावं विचचार।

सञ्जीविनी—लतेति। लतानां वल्लीनां प्रतानैः कुटिलतन्तुभिरुद्ग्रथिता उन्नमय्य ग्रथिता ये केशास्तैरुपलक्षितः। 'इत्थम्भूतलक्षणे' इति तृतीया। स राजा। अधिज्यमारोपितमौर्वीकं धनुर्यस्य सोऽधिज्यधन्वा सन्। 'धनुषश्च' इत्यनङादेशः। मुनिहोमधेनो रक्षापदेशाद्रक्षणव्याजाद्। वन्यान् वने भवान् दुष्टसत्त्वान् दुष्टजन्तून् 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः। विनेष्यन् शिक्षयिष्यन्निव। दावं वनम्। 'वने च वनवह्नौ च दावो दव इहेष्यते' इति यादवः। विचचार। वने चचारेत्यर्थः। 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इति दावस्य कर्मत्वम्।

व्याख्या—लताप्रतानोद्ग्रथितैः = वल्लीकुटिलतन्तुभिरुन्नमय्य बद्धैः, केशैः = कचैः, (उपलक्षितः–युक्तः शोभितो वा) अधिज्यधन्वा = आरोपितकार्मुकः–सज्जधनुष्मान्, मुनिहोमधेनोः = वसिष्ठहवनार्थधेनोः, नन्दिन्याः, रक्षापदेशात् = रक्षणव्याजात्, वन्यान् = आरण्यकान्, दुष्टसत्त्वान् = सिंहव्याघ्रादिक्रूरजन्तून् विनेष्यन्निव = उपदेक्ष्यन्निव दावं = वनं विचचार = परिबभ्राम।

समासः—लतानां प्रताना लताप्रतानाः तैः उद्ग्रथिताः लताप्रतानोद्ग्रथिताः, तैः लताप्रतानोद्ग्रथितैः। ज्यामभिगतमधिज्यम् अधिज्यं धनुर्यस्यासौ अधिज्यधन्वा। होमार्थं धेनुः होमधेनुः, मुनेः होमधेनुर्मुनिहोमधेनुः तस्याः मुनिहोमधेनोः। रक्षाया अपदेशः रक्षापदेशः तस्मात् रक्षापदेशात्। वने भवाः वन्याः तान् वन्यान्। विनेष्यतीति विनेष्यन्। दुष्टाश्च ते सत्त्वाः दुष्टसत्त्वाः तान् दुष्टसत्त्वान्।

भावार्थः—केशान् उपरि उत्थाप्य लतातन्तुभिः बद्ध्वा च सज्जीकृतं धनुः गृहीत्वा नन्दिनीरक्षणव्याजेन दुष्टान् हिंस्रकवनजन्तून् दमयिष्यन्निव राजा दिलीपो वनं बभ्राम।

भाषार्थ—लतातन्तुओं से गूंथे हुये केश वाले, प्रत्यक्ष चढ़े हुए धनुष को धारण किये वे राजा दिलीप वसिष्ठ ऋषि के धेनु की रक्षा के बहाने जंगली दुष्ट जीवों को मानों शिक्षा देते हुये वन मे विचरने लगे॥ ८॥

'विसृष्ट' इत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैस्तस्य महामहिमतया द्रुमादयोऽपि राजोपचारं चक्रुरित्याह—

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः॥ ९॥

अन्वयः—विसृष्टपार्श्वानुचरस्य पाशभृता समस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः उन्मदानां वयसां विरावैः आलोकशब्दं उदीरयामासुः इव ।

सञ्जीविनी—विसृष्टेति । विसृष्टाः पार्श्वानुचराः पार्श्ववर्तिनो जना येन तस्य । पाशभृता वरुणेन समस्य तुल्यस्य । 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः । अनुभावोऽनेन सूचितः । तस्य राज्ञः पार्श्वयोर्द्रुमाः । उन्मदानामुत्कटमदानां वयसां खगानाम् । 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः । विरावैः शब्दैः । आलोकस्य शब्दं वाचकमालोकयेति शब्दं जयशब्दमित्यर्थः । 'आलोको जयशब्दः स्याद्' इति विश्वः । उदीरयामासुरिवावदन्निव इत्युत्प्रेक्षा ।

व्याख्या—विसृष्टपार्श्वानुचरस्य = निवर्तितासन्नसेवकवर्गस्य, पाशभृता = वरुणेन, समस्य = तुल्यस्य, तस्य = राज्ञो दिलीपस्य, पार्श्वद्रुमाः = निकटवर्तिनो वृक्षाः, उन्मदाना = प्रहृष्टानाम्, मत्तानाम्, वयसां = पक्षिणाम्, विरावैः = कूजितैः, आलोकशब्द = जयशब्दम्, उदीरयामासुः = उच्चारयामासुः, इव = नूनम् ।

समासः—अनु पश्चाच्चरन्तीत्यनुचराः पार्श्वयोः अनुचरा इति पार्श्वानुचराः विसृष्टाः पार्श्वानुचरा येन स विसृष्टपापार्श्वानुचराः तस्य विसृष्टपार्श्वानुचरस्य । पाशं बिभर्तीति पाशभृत्तेन पाशभृता । पार्श्वयोर्द्रुमाः पार्श्वद्रुमाः । उद्गतो मदो येषां ते उन्मदाः तेषाम् उन्मदानाम् । आलोकस्य शब्दः आलोकशब्दः तम् आलोकशब्दम् ।

भावार्थः—यथा नृपतीनां गमनागमनप्रसङ्गे राजपुरुषाः 'जयतु जयतु, विजयस्व महाराजः' इत्यादीन् शब्दान् समुच्चारयन्ति तथैवानुचरान् विसृज्य एकाकितया सञ्चरतः तेजसा वरुणसदृशस्य राज्ञो दिलीपस्य उभयपार्श्ववर्तिनो वृक्षा अपि प्रहृष्टपक्षिशब्दैः जयजयकारमकुर्वन्निति भावः ।

भाषार्थ—पार्श्ववर्ती सेवकों को लौटा देने वाले, वरुण के समान उस राजा के अगल-बगल के वृक्षों ने उन्मत्त पक्षियों के कलरव से मानों जयकार किया ।।९।।

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम् ।
अवाकिरन्वाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्या ।। १० ।।

अन्वयः—मरुत्प्रयुक्ताः बाललताः च आरात् अभिवर्तमानं मरुत्सखाभं अर्च्यं तं प्रसूनैः पौरकन्याः आचारलाजैः इव अवाकिरन् ।

सञ्जीविनी—मरुत्प्रयुक्ताश्चेति । मरुत्प्रयुक्ता वायुना प्रेरिताः, बाललताः, आरात्समीपेऽभिवर्त्तमानम् । 'आराद्दूरसमीपयोः' इत्यमरः । मरुतो वायोः सखा

मरुत्सखोऽग्निः । स इवाभातीति मरुत्सखाभम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः । अर्च्यं पूज्यं तं दिलीपं प्रसूनैः पुष्पैः । पौरकन्याः पौराश्च ताः कन्या आचारार्थैर्लाजैराचारलाजैरिव । अवाकिरन् तस्योपरि निक्षिप्तवत्य इत्यर्थः । सखा हि सखायमागतमुपचरतीति भावः ।

व्याख्या—मरुत्प्रयुक्ताः = वनप्रेरिताः, वायुकम्पिताः, बाललताः = अचिरोत्पन्नव्रतयः, च, हि, आरात् = समीपे, अभिवर्तमानं = विद्यमानम्—गच्छन्तम्, मरुत्सखाभं = अग्निसमतेजसम्, अर्च्यं = पूजनीयम्, तं = राजानं दिलीपं प्रसूनैः = पुष्पैः, पौरकन्याः = नागरिककुमार्यः, आचारलाजैः = मङ्गलार्थं भर्जितधान्यैः इव = यथा, अवाकिरन् = अवर्षयन् ।

समासः—मरुता प्रयुक्ता मरुत्प्रयुक्ताः । बालाश्च ता लता बाललताः । मरुतः सखा मरुत्सखा स इव आभातीति मरुत्सखाभः । अथवा मरुत्सखस्याभेव आभा यस्य स मरुत्सखाभः तं मरुत्सखाभम् । अर्चितुं योग्यः अर्च्यः तम् अर्च्यम् । पुरे भवाः पौराः पौराश्च ता कन्या इति पौरकन्याः अथवा पौराणां कन्याः पौरकन्याः । आचारार्थं लाजा आचारलाजाः तैः आचारलाजैः ।

भावार्थ—यथा पौरवृद्धप्रेरिता नागरिककुमार्यः नगरे गच्छन्तं राजानं मङ्गलार्थं लाजान् वर्षन्ति तथैव तेजसा देदीप्यमानं सन्निहितं राजानं दिलीपं वायुप्रेरिता बालवल्लय पुष्पाणि ववृपुः । अर्थात् वायुः स्वसुहृत्सदृशं राजानमवलोक्य लतासंप्रेर्य तत्सत्कारमाचरदिति भावः ।

भाषार्थ—और वायुसंचालित नई लताओं ने पास में वर्तमान अग्नि के समान राजा दिलीप के ऊपर बालिकाओं द्वारा धान के समान पुष्पों की वर्षा किया ॥१०॥

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयाऽऽर्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः ।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥ ११ ॥

अन्वयः—धनुर्भृतः अपि अस्य विशङ्कैः अन्तःकरणैः दयार्द्रभावं आख्यातं वपुः विलोकयन्त्यः हरिण्यः अक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं आपुः ।

सञ्जीविनी—धनुर्भृत इति । धनुर्भृतोऽप्यस्य राज्ञः । एतेन भयसम्भावना दर्शिता । तथाऽपि विशङ्कैर्निर्भीकैरन्तःकरणैः कर्तृभिः । दयया कृपारसेनार्द्रो भावोऽभिप्रायो यस्य तद्दयाऽऽर्द्रभावं तदाख्यातम् । दयाऽऽर्द्रभावमेतदित्याख्यातमित्यर्थः । 'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टाऽऽत्मजन्मसु' इत्यमरः । तथाविधं वपु-

विलोकयन्त्यो हरिण्यः अक्ष्णां प्रकामविस्तारस्यात्यन्तविशालतायाः। फलमापुः "विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं च" इति न्यायेन स्वान्तःकरणवृत्तिप्रामाण्यादेव विश्रब्धं ददृशुरित्यर्थ।

व्याख्या—धनुर्भृतः = चापधारिणः, अपि अस्य = राज्ञो दीलीपस्य, विशङ्कैः = निर्भयैः, अन्तःकरणैः = स्वान्तैः, दयार्द्रभावम् = अनुकम्पार्द्रहृदयम्, आख्यातं = कथितम्, वपुः = शरीरम्, विलोकयन्त्यः = पश्यन्त्यः, हरिण्यः = मृग्यः, अक्ष्णोः = स्वलोचनयोः, प्रकामविस्तारफलं = अत्यन्तविशालताप्रयोजनम्, आपुः = प्रापुः।

समासः—धनुर्बिभर्तीति धनुर्भृत् तस्य धनुर्भृतः। दयया आर्द्रो भावः यस्य तत् दयार्द्रभावं तत् दयार्द्रभावम्। अन्तस्थानि च तानि करणानि चेति अन्तःकरणानि, तैः अन्तःकरणैः। विगता शङ्का येभ्यः तानि विशङ्कानि तैः विशङ्कैः। प्रकामं विस्तारः प्रकामविस्तारः तस्य फलं प्रकामविस्तारफलं तत् प्रकामविस्तारफलम्। विलोकयन्तीति विलोकयन्त्यः।

भावार्थः—धृतकार्मुकस्यापि अस्य राज्ञो हृदयं दयार्द्रमिति निजान्तःकरणप्रत्ययादभिज्ञाय भयातङ्करहिता हरिण्यो दिलीपस्य कमनीयं वपुः विशालैः लोचनैः निर्निमेष अवलोकयन्त्यः निजनयनविशालतायाः साफल्यं लेभिरे।

भाषार्थ—धनुषधारी होने पर भी निर्भीक अन्त.करण से दया के भाव वाले शरीर को देखने वाली हरिणियों ने अपनी आँखों के विशाल होने का फल पा लिया॥ ११॥

> स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
> शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः॥ १२॥

अन्वयः—स मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिः कीचकैः आपादितवंशकृत्यं कुञ्जेषु वनदेवताभिः उच्चैः उद्गीयमानं स्वं यशः शुश्राव।

सञ्जीविनी—स इति। स दिलीपो मारुतपूर्णरन्ध्रैः। अत एव कूजद्भिः स्वनद्भिः कीचकैर्वेणुविशेषैः। 'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः। वंशः सुषिरवाद्यविशेषः। 'वंशादिकं तु सुषिरम्' इत्यमरः। आपादितं सम्पादितं वंशस्य कृत्यं कार्यं यस्मिन्कर्मणि तत्तथा। कुञ्जेषु लतागृहेषु। 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः। वनदेवताभिरुद्गीयमानमुच्चैर्गीयमानं स्वं यशः शुश्राव श्रुतवान्।

व्याख्या—सः = राजा दिलीपः, मारुतपूर्णरन्ध्रैः = वायुपूर्णच्छिद्रैः, अतएव कूजद्भिः = स्वनद्भिः, कीचकैः = वेणुविशेषैः, आपादितवंशकृत्यं = सम्पादितमुरलीवाद्यकार्यम्, यथा स्यात्तथा कुञ्जेषु = लतागृहेषु वनदेवताभिः=काननदेवीभिः, उच्चैः = तारस्वरम्, उद्गीयमानं = प्रस्तूयमानम्, स्वं = आत्मीयम्, यशः = कीर्तिम्, शुश्राव = श्रुतवान् ।

समासः—मारुतेन पूर्णानि रन्ध्राणि येषां ते मारुतपूर्णरन्ध्राः तैः मारुतपूर्णरन्ध्रैः । वंशस्य कृत्यं वंशकृत्यम् आपादितं वंशकृत्यं यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात्तथा आपादितवंशकृत्यम् । वनस्य देवताः वनदेवताः, ताभिः वनदेवताभिः ।

भावार्थः—राजादिलीपः वने संचरन् लतासन्नगृहेषु वनाधिष्ठातृदेवताभिः गीयमानां निजा कीर्तिमाकर्णितवान् । तत्र पुनः सच्छिद्रैः वंशैः वायुपूरणेन स्वनद्भिः वंशवाद्यस्य कार्यं स्वरदानरूपं समाचरितमिति भावः ।

भाषार्थ—उस राजा दिलीप ने छिद्रों में भरी हुई हवा से गूँजने वाले बाँसों से वन देवियो द्वारा कुञ्जों में ऊँचे स्वर से गाये जाते हुए अपने यश को सुना ॥१२॥

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥१३॥

अन्वयः—गिरिनिर्झराणां तुषारैः पृक्तः अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी पवनः अनातपत्रं आतपक्लान्तं आचारपूतं तं सिषेवे ।

सञ्जीविनी—पृक्त इति । गिरिषु निर्झराणां वारिप्रवाहाणाम् । 'वारिप्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । तुषारैः सीकरैः । 'तुषारो हिमसीकरौ ।' इति शाश्वतः। पृक्तः सम्पृक्तोऽनोकहानां वृक्षाणामाकम्पितानीषत्कम्पितानि पुष्पाणि येषु यो गन्धः सोऽस्यास्तीत्याकम्पितपुष्पगन्धी । ईषत्कम्पितपुष्पगन्धवान् । एवं शीतो मन्दः सुरभिः पवनो वायुरनातपत्रं व्रतार्थं परिहृतच्छत्रम् । अत एवातपक्लान्तमाचारेण पूतं शुद्धं तं नृपं सिषेवे । आचारपूतत्वात्स राजा जगत्पावनस्यापि सेव्य आसीदिति भावः ।

व्याख्या—गिरिनिर्झराणां = अद्रिवारिप्रवाहाणाम्, तुषारैः = शीकरैः, सूक्ष्मजलकणैः, पृक्तः = संपृक्तः, अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी = ईषदान्दोलितकुसुमामोदशाली, पवनः = वायुः, अनातपत्रं = व्रतपालनाय छत्ररहितम्, अतएव आतपक्लान्त = घर्मपीडितम्, आचारपूतं = सदाचारपवित्रम्, तं = राजानम्, सिषेवे = सेवितवान् ।

समासः—गिरिषु निर्झरा गिरिनिर्झराः तेषां गिरिनिर्झराणाम्। ईषत्कम्पितानि आकम्पितानि, आकम्पितानि च तानि पुष्पाणि आकम्पितपुष्पाणि अनोकहानाम् आकम्पितपुष्पाणि अनोकहाकम्पितपुष्पाणि तेषां प्रशस्तः गन्धोऽस्तीति अनोकहाकम्पिपुष्पगन्धी। आतपेन क्लान्तः आतपक्लान्त तम् आतपक्लान्तम्। आतपाद् त्रायते इति आतपत्रं न विद्यते आतपत्रं यस्यासौ अनातपत्रः तम् अनातपत्रम्। आचारेण पूतम् आचारपूतः तम् आचारपूतम्।

भावार्थः—निर्झरकणसम्पर्कात् शीतः, पुष्पगन्धयुक्तत्वात् सुगन्धः, आकम्पितत्वात् मन्दश्चेति त्रिविधो वायुः सदाचारसम्पन्नं धर्मार्तं राजानं दिलीपं सेवितवान्। आचारः प्रथमो धर्म इत्युक्त्या सदाचारसम्पन्नः पुमान् सर्वेषां सेव्यो भवतीति जगत्पावनस्य पवनस्यापि स सेव्यो जातः।

भाषार्थ—पर्वतीय झरनों के जल कणों से मिश्रित कुछ हिलते हुए वृक्षों के फूलों की सुगन्धित हवा ने छलरहित धूप से मुरझाते हुए उस शुद्ध आचरण वाले राजा दिलीप की सेवा की ॥१३॥

शशाम वृष्ट्याऽपि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने ॥१४॥

अन्वयः—गोप्तरि तस्मिन् वने गाहमाने (सति) वृष्ट्या विनापि दवाग्निः शशाम। फलपुष्पवृद्धिः विशेषा आसीत्। सत्त्वेषु अधिकः ऊनं न बबाधे।

सञ्जीविनी—शशामेति। गोप्तरि तस्मिन् वनं गाहमाने प्रविशति सति वृष्ट्या विनापि दवाग्निर्वनाग्निः 'दवदावौ वनानले' इति हैमः। शशाम। फलानां पुष्पाणां च वृद्धिः। विशेष्यत इति विशेषा अतिशयिताऽऽसीत्। कर्मार्थे घञ्प्रत्ययः। सत्त्वेषु जन्तुषु मध्ये। 'यतश्च निर्धारणम्' इति सप्तमी। अधिकः प्रबलो व्याघ्रादिरूपं दुर्वलं हरिणादिकं न बबाधे।

व्याख्या—गोप्तरि = रक्षके, तस्मिन् = राजनि दिलीपे, वनं = विपिनम्, गाहमाने प्रविशति सति वृष्ट्या विनापि = वर्षणमन्तरापि स्वयमेव, दवाग्निः = वनानलः, शशाम = शान्तः, फलपुष्पवृद्धिः = फलकुसुमसमृद्धिः, विशेषा = अतिशयिता, आसीत् = बभूव, किञ्च सत्त्वेषु = जन्तुषु मध्ये, अधिकः = प्रबलो बलवान् वा, सिंहादिः, ऊनं = दुर्बलम् मृगादिकम्, न बबाधे = नैव पीडयामास।

समासः—दवस्य अग्निः दवाग्निः। फलानि च पुष्पाणि च फलपुष्पाणि

फलपुष्पाणां वृद्धिः फलपुष्पवृद्धिः। गोपायतीति गोता तस्मिन् गोप्तरि, गाह इति गाहमानः तस्मिन् गाहमाने।

भावार्थः—धर्मात्मनो राज्ञो दिलीपस्य तस्मिन् वने प्रवेशमात्रेण वृष्टिं विना वनाग्निः शान्तो जातः, फलेषु पुष्पेषु च वैशिष्ट्यमभवत्, किञ्च 'जीवो जीवस्य भक्षणम्' इत्यनुसारं वन्यपशुषु परस्परं प्रबलः प्राणी दुर्बलं न पीडितवान्।

भावार्थ—उस रक्षक राजा के वन में प्रवेश करने पर वनाग्नि वर्षा के बिना ही शान्त हो गया, फल-फूलों की वृद्धि विशेषरूप से होने लगी, पशुओं में सबल निर्बल को सता नहीं पाये ॥१४॥

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥१५॥

अन्वयः—पल्लवरागताम्रा पतङ्गस्य प्रभा मुनेः धेनुश्च दिगन्तराणि सञ्चारपूतानि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुं प्रचक्रमे।

सञ्जीविनी—सञ्चारेति। पल्लवस्य रागो वर्णः पल्लवरागः 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु' इति शाश्वतः। स इव ताम्रा पल्लवरागताम्रा। पतङ्गस्य सूर्यस्य प्रभा कान्तिः 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इति शाश्वतः। मुनेर्धेनुश्च दिगन्तराणि दिशामवकाशान्। 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः। सञ्चारेण पूतानि शुद्धानि कृत्वा दिनान्ते सायंकाले निलयायास्तमयाय धेनुपक्षे आलयाय च गन्तुं प्रचक्रमे।

व्याख्या—पल्लवरागताम्रा = किसलयरक्तवर्णा, पतङ्गस्य = सूर्यस्य, प्रभा = कान्तिः, मुनेः = वसिष्ठस्य धेनुश्च = नन्दिनी च, दिगन्तराणि = दिशामवकाशान्, सञ्चारपूतानि = परिभ्रमणपवित्राणि च कृत्वा = विधाय, दिनान्ते = सायङ्काले, निलयाय = आश्रमाय, अस्ताचलाय च गन्तुं = यातुम्, प्रचक्रमे = प्रवृत्ता।

समासः—पल्लवस्य रागः पल्लवरागः पल्लव राग इव ताम्रा पल्लवरागताम्रा। दिशामन्तराणि दिगन्तराणि तानि दिगन्तराणि। सञ्चारेण पूतानि सञ्चारपूतानि तानि सञ्चारपूतानि। दिनस्यान्तः दिनान्तः तस्मिन् दिनान्ते।

भावार्थः—अथ सायङ्काले रक्तवर्णा सूर्यप्रभा नन्दिनी च। उभे अपि निज सञ्चारेण दिगन्तरं पवित्रं कृत्वा स्वस्वस्थाने (अस्ताचलं वसिष्ठस्याश्रमं च) गन्तुं प्रवृत्ते।

भावार्थ—नवीन पल्लव की लालिमा के समान सूर्य की प्रभा और वसिष्ठ

धेनु नन्दिनी दिशाओं को अपने परिभ्रमण से पवित्र करके सायंकाल निलय (आश्रम या अस्ताचल) के लिए लौटी ।।१५।।

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ।।१६।।

अन्वयः—मध्यमलोकपालः देवतापित्रतिथिक्रियार्थां ताम् अन्वक् ययौ च सताम् मतेन, तेन उपपन्ना सा विधिना साक्षात् श्रद्धा इव बभौ च ।

सञ्जीविनी—तामिति । मध्यमलोकपालो भूपालः । देवतापित्रतिथीनां क्रिया यागश्राद्धदानानि ता एवार्थः प्रयोजनं यस्यास्तां धेनुमन्वगनुपदं ययौ । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीबमव्ययम्' इत्यमरः । सतां मतेन सद्भिर्मान्येन । 'गतिबुद्धि–' इत्यादिना वर्त्तमाने क्तः । 'क्तस्य च वर्त्तमाने' इति षष्ठी । तेन राज्ञोपपन्ना युक्ता सा धेनुः । सतां मतेन विधिनाऽनुष्ठानेनोपपन्ना युक्ता साक्षात्प्रत्यक्षा श्रद्धाऽऽस्तिक्यबुद्धिरिव बभौ च ।

व्याख्या—मध्यमलोकपालः = मर्त्यलोकरक्षकः, देवतापित्रतिथिक्रियार्थां = देवपित्रतिथियज्ञादिसम्पादयित्रीम्, तां = नन्दिनीम्, अन्वक् = अनुपदम्, पृष्ठे वा ययौ = जगाम । च = किञ्च सतां = सज्जनानाम्, मतेन = सम्मतेन, तेन = राज्ञा दिलीपेन, उपपन्ना = युक्ता, सा = धेनुर्नन्दिनी, सतां मतेन = वृद्धसम्मतेन विधिना = अनुष्ठानेनोपपन्ना, साक्षात् = प्रत्यक्षीभूय स्थिता भूतिमती, श्रद्धा = आस्तिक्यबुद्धिः इव = यथा बभौ = शुशुभे ।

समासः—मध्ये भवो मध्यमः मध्यमश्चासौ लोकः मध्यमलोकः मध्यमलोकं पालयतीति मध्यमलोकपालः । देवताश्च पितरश्च अतिथयश्च ते देवतापित्रतिथयः तेषां क्रिया अर्थः यस्या सा देवतापित्रतिथिक्रियार्था तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थाम् ।

भावार्थः—भूलोकपालको राजा दिलीपः देवतापित्रतिथ्यर्थं यज्ञयागश्राद्धादिकर्मानुष्ठानसाधनभूतां तां नन्दिनीमनु राजापि वसिष्ठाश्रमं ययौ । अपि च सज्जनाभिमतेन दिलीपेन युक्ता धेनुः शास्त्रोक्तविधानेन सहिता श्रद्धा इव शुशुभे ।

भाषार्थ—भूलोकपालक राजा दिलीप देव, पितर एवं अतिथियों के कार्य को सम्पन्न करने वाली उस नन्दिनी के पीछे चले । और सज्जनों के माननीय दिलीप से युक्त वह नन्दिनी अनुष्ठान से युक्त मूर्तिमान् श्रद्धा के समान सुशोभित हुई।।१६।।

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ।।१७।।

अन्वयः—स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ययौ ।

सञ्जीविनी—स इति । स राजा । पल्वलेभ्योऽल्पजलाशयेभ्य उत्तीर्णानि निर्गतानि वराहाणां यूथानि कुलानि येषु तानि । बर्हाण्येषां सन्तीति बर्हिणो मयूराः । 'मयूरो बर्हिणो बर्ही' इत्यमरः । 'फलबर्हाभ्यामिनच्प्रत्ययो वक्तव्यः' आवासवृक्षाणामुन्मुखा बर्हिणो येषु तानि । श्यामायमानानि वराहबर्हिणादिमालिन्या निम्ना, अश्यामानि श्यामानि भवन्तीति श्यामायमानानि । 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति क्यष्प्रत्ययः । 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदे शानच् । मृगैरध्यासिता अधिष्ठिताः शाद्वला येषु तानि । शादाः शष्पाण्येषु देशेषु सन्तीति शाद्वलाः शष्पश्यामदेशाः । 'शाद्वलः शादहरिते' इत्यमरः । 'शादः कर्दमशष्पयोः' इति विश्वः । 'नडशादाड्ड्वलच्' इति ड्वलच्प्रत्ययः । वनानि पश्यन् ययौ ।

व्याख्या—सः राजा दिलीपः, पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि = जलाशयोत्थित-शूकरवृन्दानि, आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि = निवासपादपाभिमुखप्रचलन्मयूराणि, श्यामायमानानि = सन्ध्यान्धकारमलिनानि, मृगाध्यासितशाद्वलानि = कृष्णसार-हरिणकुलाधिष्ठितबालतृणप्रदेशानि, वनानि = काननानि, पश्यन् = विलोकयन् सन्, ययौ = जगाम ।

समासः—वाराहाणां यूथानि वराहयूथानि पल्वलेभ्य उत्तीर्णानि वराहयूथानि येषु तानि पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि तानि पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि । आवासस्य वृक्षा आवासवृक्षा आवासवृक्षाणाम् उन्मुखा बर्हिणा येषु तानि आवासवृक्षोन्मुख-बर्हिणानि तानि आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि । मृगैः अध्यासिताः शाद्वला येषु तानि मृगाध्यासितशाद्वलानि तानि मृगाध्यासितशाद्वलानि । न श्यामानि अश्यामानि अश्यामानि श्यामानि भवन्तीति श्यामायमानानि यद्वा श्यामायन्ते इति श्यामायमानानि तानि श्यामायमानानि । पश्यतीति पश्यन् ।

भावार्थः—शूकरादि घर्मसमये आतपभयात् पल्वलेषु दिवसमतिवाहयन्ति सायङ्काले च ततो निर्गच्छन्ति । मयूराश्च सिंहव्याघ्रादिहिंसकजन्तुभयादुच्चतरुमाश्रयन्ते । एवं हरिणाहरिततृणस्थलीषु खेलन्ति । एतैर्वनस्य श्यामता प्रदृश्यते । एवं च परावर्तनकाले क्वचित् स्वल्पजलाशयेभ्यो वराहा निर्यान्ति कुत्रचित् मयूराः सोल्लासं निवासवृक्षोपरि ऊर्ध्वं मेघं पश्यन्ति, क्वचन च हरिणा दूर्वादलेषु प्रविष्टाः सन्ति इत्थं वनप्रदेशान् पश्यन् दिलीपो जगाम ।

भाषार्थ—वे राजा दिलीप तालावों से निकलते हुए सूअरों के झुण्डवाले, अपने निवास वृक्षों की तरफ आते हुए मोरों वाले और हरी-हरी दूब पर बैठे हुए हरिण वाले हरे वनों को देखते हुए चले ॥१७॥

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद् गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः ।
उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥१८॥

अन्वयः—गृष्टिः आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात् नरेन्द्रः वपुषः गुरुत्वात् उभौ अञ्चिताभ्यां गताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं अलंचक्रतुः ।

सञ्जीविनी—आपीनेति । गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः । 'गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः' इति हलायुधः । नरेन्द्रश्च । उभौ यथाक्रमम् । आपीनमूधः । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः । आपीनस्य भारोद्वहने प्रयत्नात्प्रयासात् वपुषो गुरुत्वादाधिक्याच्च । अञ्चिताभ्यां चारुभ्यां गताभ्यां गमनाभ्यां तपोवनादावृत्तेः पथास्तं तपोवनावृत्तिपथम् 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इत्यनेन समासान्तोऽप्रत्ययः । अलञ्चक्रतुर्भूषितवन्तौ ।

व्याख्या—गृष्टिः = सकृत्प्रसूता गौः नन्दिनी, आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात् = ऊधोभारनयनप्रयासात्, नरेन्द्रः = राजेन्द्रो दिलीपश्च वपुषः = शरीरस्य, गुरुत्वात् = गौरवात्, अञ्चिताभ्यां = मनोहराभ्याम्, गताभ्यां = सलीलगमनाभ्याम्, तपोवनावृत्तिपथं = आश्रमपरावर्तनमार्गम्, अलञ्चक्रतुः = भूषयामासतुः ।

समासः—आपीनस्य भारः आपीनभारः आपीनभारस्य उद्वहनम् आपीनभारोद्वहनं तत्र प्रयत्नः आपीनभारोद्वहनप्रयत्नः तस्मात् आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात् । गुरुणो भावः गुरुत्वं तस्मात् गुरुत्वात् । नरेषु नराणां वा इन्द्रः नरेन्द्रः । तपसो वनं तपोवनं तपोवनात् आवृत्तिः तपोवनावृत्तिः तपोवनावृत्तेः पन्था तपोवनावृत्तिपथः तं तपोवनावृत्तिपथम् ।

भावार्थः—स्तनभारात् मन्दगमनाया नन्दिन्या शरीरस्थौल्यात् मत्तगजेन्द्रवत् गमनशीलस्य राज्ञो दिलीपस्य च चारुचक्रमणैः आकर्षकमन्थनगमनेन वा वनमार्गः शोभावाप ।

भाषार्थ—प्रथमबार ब्याई हुई नन्दिनी ने स्तन के भार को सँभालने से और राजा दिलीप ने अपने शरीर की स्थूलता से उन दोनों ने तपोवनगामी मार्ग को अपनी-अपनी सुन्दर चाल से सुशोभित किया ॥१८॥

निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिः = निमीलनाशिथिललोचनलोमराजिः

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥१९॥

अन्वयः—वसिष्ठधेनोः अनुयायिनं वनान्तात् आवर्तमानं तं वनिता निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिः (सती) उपोषिताभ्यां इव लोचनाभ्यां पपौ ।

सञ्जीविनी—वसिष्ठेति । वसिष्ठधेनोरनुयायिनमनुचरं वनान्तादावर्त्तमानं प्रत्यागत तं दिलीपं वनिता सुदक्षिणा निमेषेष्वलसा मन्दा पक्ष्मणां पङ्क्तिर्यस्याः सा । निर्निमेषा सतीत्यर्थः । लोचनाभ्यां करणाभ्याम् । उपोषिताभ्यामिव । उपवासो भोजननिवृत्तिस्तद्वद् भक्त्यामिव । वसतेः कर्त्तरि क्तः । पपौ । यथोपोषितोऽतितृष्णया जलमधिकं पिबति तद्वदतितृष्णयाऽधिकं व्यलोकयदित्यर्थः ।

व्याख्या—वनिता = दिलीपभार्या सुदक्षिणा वसिष्ठधेनोः = नन्दिन्याः, अनुयायिन = अनुचरम्, वनान्तात् = काननप्रान्तभागात्, आवर्तमानं = आश्रमं प्रत्यागच्छन्तम्, तं = दिलीपम् , उपोषिताभ्यां = कृतोपवासाभ्याम्, औत्सुक्येन तृषिताभ्याम् इव = यथा लोचनाभ्यां = नयनाभ्याम्, पपौ = निर्निमेषं ददर्श ।

समासः—वसिष्ठस्य धेनुः वसिष्ठधेनुः तस्या वसिष्ठधेनोः । अनुयाति तच्छीलोऽनुयायी तम् अनुयायिनम् । आवर्तते इत्यावर्तमानः तम् आवर्तमानम्, वनस्यान्तो वनान्तः तस्मात् वनान्तात् । पक्ष्मणां पङ्क्तिः पक्ष्मपङ्क्तिः निमिषेषु अलसा पक्ष्मपङ्क्तिर्यस्या सा निमिषालसपक्ष्मपङ्क्तिः ।

भावार्थः—अत्युत्कण्ठिता निर्निमेषलोचना सुदक्षिणा नन्दिनीमनुसृत्य वनात् निवर्तमानं राजानं दिलीपम् अपश्यदित्यर्थः । यथा कृतोपवासो मानवोऽतितृषितो भवति तथैव तस्यानयने अत्युत्सुकतया अपश्यतामिति भावः ।

भाषार्थ—महर्षि वसिष्ठ की नन्दिनी के पीछे-पीछे चलने वाले वन से लौटे हुए उस दिलीप को रानी सुदक्षिणा ने निर्निमेष तृषित नेत्रों से देखा ॥१९॥

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥२०॥

अन्वयः—वर्त्मनि पार्थिवेन पुरस्कृता पार्थिवधर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुः तदन्तरे दिनक्षपामध्यगता सन्ध्या इव विरराज ।

सञ्जीविनी—पुरस्कृतेति । वर्त्मनि पार्थिवेन पृथिव्या ईश्वरेण । 'तस्येश्वर' इत्यण्प्रत्ययः । पुरस्कृताग्रतः कृता । धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी धर्मार्थपत्नीत्यर्थः

अश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः। पार्थिवस्य धर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुस्तदन्तरे तयोर्दम्पत्योर्मध्ये। दिनक्षपयोर्दिनराज्योर्मध्यगता सन्ध्येव विरराज।

व्याख्या—वर्त्मनि = मार्गे, पार्थिवेन = राज्ञा दिलीपेन, पुरस्कृता = अग्रे कृता किञ्च पार्थिवधर्मपत्न्या = राजमहिष्या सुदक्षिणया, प्रत्युद्गता = अभियाता, सा धेनुः = नन्दिनी, तदन्तरे = सुदक्षिणादिलीपयोर्मध्यगता सती दिनक्षपामध्यगता = दिवसनिशामध्यवर्तिनी, सन्ध्या = सायंकाल इव = यथा विरराज = शुशुभे।

समासः—पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः तेन पार्थिवेन। धर्मार्थं पत्नी धर्मपत्नी पार्थिवस्य धर्मपत्नी पार्थिवधर्मपत्नी तया पार्थिवधर्मपत्न्या। तयोः अन्तरं तदन्तरं तस्मिन् तदन्तरे। दिनं च क्षपा च दिनक्षपा तयोर्मध्यं दिनक्षपामध्यं दिनक्षपामध्यं गता दिनक्षपामध्यगता।

भावार्थः—वसिष्ठाश्रमस्य समीपे पृष्ठे राजा दिलीपः, मध्ये नन्दिनी, पुनरग्रे सुदक्षिणा इति क्रम आसीत्। तदानीं दम्पत्योर्मध्ये स्थिता नन्दिनी दिनराज्योः मध्यस्थिता सन्ध्यावत् शुशुभे। अत्र प्रतापिनो राज्ञो दिलीपस्य दिनसादृश्यात् चन्द्रमुख्याश्च सुदक्षिणायाः चन्द्रयुतनिशासादृश्यात् पाटलवर्णाया नन्दिन्या दिनक्षपामध्यगतसन्ध्यासाम्यमाविष्कृतमस्ति।

भाषार्थ—मार्ग में राजा दिलीप से आगे की गई और सुदक्षिणा द्वारा अगवानी की गई वह नन्दिनी उन दोनों के बीच में दिन एवं रात के मध्य में वर्तमान सन्ध्या के समान सुशोभित हुई ॥२०॥

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्या शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥२१॥

अन्वयः—साक्षतपात्रहस्ता सुदक्षिणा पयस्विनीं तां प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च अस्या विशालं शृङ्गान्तरं अर्थसिद्धेः द्वारम् इव आनर्च।

सञ्जीविनी—प्रदक्षिणीकृत्येति। अक्षतानां पात्रेण सह वर्तते इति साक्षतपात्रो हस्तो यस्याः सा सुदक्षिणा पयस्विनीं प्रशस्तक्षीरां तां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च अस्या धेन्वाः विशालं शृङ्गमध्यम्। अर्थसिद्धेः कार्यसिद्धेर्द्वारं प्रवेशमार्गमिव, आनर्चार्चयामास। अर्चतेर्भौवादिकाल्लिट्।

व्याख्या—साक्षतपात्रहस्ता = सतण्डुलभाजनकरा, सुदक्षिणा = राजमहिषी, पयस्विनीं = प्रशस्तक्षीरां तां = पूर्वोक्तां नन्दिनीम्, प्रदक्षिणीकृत्य = प्रदक्षिणां विधाय प्रणम्य = अभिवाद्य नमस्कृत्य, च = पुनः, अस्याः = धेनोः, विशालं =

विपुलम्, शृङ्गान्तरं = शृङ्गमध्यम्, अर्थसिद्धेः = स्वकार्यसिद्धेः, द्वारं = प्रवे मार्गम्, इव = यथा, आनर्च = पूजयामास ।

समासः—न प्रदक्षिणा अप्रदक्षिणा अप्रदक्षिणां प्रदक्षिणां कृत्वा इति प्र क्षिणीकृत्य । प्रशस्तं पयोऽस्या अस्तीति पयस्विनी तां पयस्विनीम् । अक्षता पात्रम् अक्षतपात्रम् अक्षतपात्रेण सह वर्तते इति साक्षतपात्री साक्षतपात्री हस्तं यस्याः सा साक्षतपात्रहस्ता । शृङ्गयोः अन्तरं शृङ्गान्तरं तत् शृङ्गान्तरम् अर्थस्य सिद्धिः अर्थसिद्धिः तस्या अर्थसिद्धेः ।

भावार्थः—सुदक्षिणा हस्तयोः अक्षतपात्रम् आदाय नन्दिन्याः परिक्रमां प्रणा च विधाय तस्या विशालं शृङ्गयोर्मध्यभागं कार्यलाभस्य—पुत्रप्राप्तेः, साधनमि पूजितवती ।

भाषार्थ—अक्षत युक्त पात्र को हाथ में लिये हुए सुदक्षिणा ने दूध देने वा उस नन्दिनी की प्रदक्षिणा और प्रणाम करके उसके विशाल दोनों सींगों मध्य भाग को मनोरथसिद्धि के द्वार के समान जानकर पूजा की ॥२१॥

> वत्सोत्सुकाऽपि स्तिमितां सपर्यां प्रत्यग्रहोत्सेति ननन्दतुस्तौ ।
> भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥२२॥

अन्वयः—सा वत्सोत्सुका अपि स्तिमिता (सती) सपर्यां प्रत्यग्रहीत् इति ननन्दतुः । हि तद्विधानां भक्त्या उपपन्नेषु प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि (भवन्ति

सञ्जीविनी—वत्सोत्सुकाऽपीति । सा धेनुर्वत्सोत्सुकाऽपि वत्स उत्कण्ठिताऽ स्तिमिता निश्चला सती सपर्यां पूजां प्रत्यग्रहीदिति हेतोस्तौ दम्पती ननन्दतुः पूजास्वीकारस्यानन्दहेतुत्वमाह—भक्त्येति । पूज्येष्वनुरागो भक्तिस्तयोप युक्तेषु विषये तद्विधानां तस्या धेन्वा विधेव विधा प्रकारो येषां तेषाम् मह मित्यर्थः । प्रसादस्य चिह्नानि लिङ्गानि पूजास्वीकारादीनि पुरःफलानि पुरोगता प्रत्यासन्नानि येषां तानि हि । अविलम्बितफलसूचकलिङ्गदर्शनादानन्दो यु इत्यर्थः ।

व्याख्या—वत्सोत्सुका अपि = स्ववत्सोत्कण्ठिता अपि, सा = धेनुर्नन्दि स्तिमिता = निश्चला निस्तब्धा सती, सपर्यां = पूजाम्, प्रत्यग्रहीत् = स्वीच इति = अतो हेतोः, तौ = सुदक्षिणादिलीपौ, ननन्दतुः = मुदमापतुः, हि = भक्त्या = श्रद्धया, उपपन्नेषु = युक्तेषु, तद्विधानां नन्दिनी-सदृशानाम्, प्र चिह्नानि = प्रसन्नतालक्षणानि—सस्नेहपूजास्वीकारादीनि, पुरःफलानि = प्रत्या फलवन्ति ।

समासः—वत्से उत्सुका वत्सोत्सुका। सा च स च तौ। तस्या विधा इव विधा येषां ते तद्विधाः तेषां तद्विधानाम्। प्रसादस्य चिह्नानि प्रसादचिह्नानि। पुरो गतं फलं येषां तानि पुरःफलानि।

भावार्थः—नन्दिनी यावद्दिनं विरहात् स्ववत्से उत्कण्ठितापि निश्चलतया गन्धमाल्याद्यर्चनां स्वीकृतवतीति आत्मानं कृतकृत्यं मन्यमानौ सुदक्षिणादिलीपौ परमां प्रसन्नतामवापतुः, यतो हि कामगवीसदृशानां भक्तोपरि प्रसन्नता अग्रे फलं जनयित्येव, न वृथा भविष्यति।

भाषार्थ—उस नन्दिनो के बछड़े को देखने के लिये उत्कण्ठित होनेपर भी निश्चल होकर पूजा स्वीकार कर ली; इससे वे प्रसन्न हुए क्योंकि वे सम्बन्ध में नन्दिनो जैसे प्रेमी व्यक्तियों की प्रसन्नता के चिह्न निःसन्देह फल के कारण होते हैं ॥२२॥

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यञ्च विधिं दिलीपः।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—भुजोच्छिन्नरिपुः दिलीपः सदारस्य गुरोः पादौ निपीड्य सान्ध्यं विधिं समाप्य च दोहावसाने निषण्णां दोग्ध्रीं एव पुनः भेजे।

सञ्जीविनी—गुरोरिति। भुजोच्छिन्नरिपुर्दिलीपः सदारस्य दारैररुन्धत्या सह वर्त्तमानस्य गुरोः। उभयोरपीत्यर्थः। 'भार्या जायाऽथ पुम्भूम्नि दाराः' इत्यमरः। पादौ निपीड्याभिवन्द्य। सान्ध्यं सन्ध्यायां विहितं विधिमनुष्ठानं च समाप्य। दोहावसाने निषण्णामासीनां दोग्ध्रीं दोहनशीलाम्। 'तृन्' इति तृन्प्रत्ययः। धेनुमेव पुनर्भेजे सेवितवान्। दोग्ध्रीमिति निरुपपदप्रयोगात्कामधेनुत्वं गम्यते।

व्याख्या—भुजोच्छिन्नरिपुः = बाहुन्मूलितारिः, दिलीपः = राजा, सदारस्य = सपत्नीकस्य गुरोः = कुलगुरोः वसिष्ठस्य, पादौ = चरणौ, निपीड्य = अभिवाद्य-प्रणम्य, किञ्च सान्ध्यं = सायङ्कालिकं सन्ध्योपासनादिकं कर्म, समाप्य = विधाय, दोहावसाने = दुग्धदोहनसमाप्त्यनन्तरम्, निषण्णां = उपविष्टां समासीनां वा, दोग्ध्रीं = कामदुघां, तां धेनुं पुनरेव = भूयोऽपि भेजे = सिषेवे।

समासः—दारैः सहितः सदारः तस्य सदारस्य। सन्ध्यायां भवः सान्ध्यः तं सान्ध्यम्, दोहनं दोहः दोहस्य अवसानं दोहावसानं तस्मिन् दोहावसाने। दुग्धे तच्छीला दोग्ध्री तां दोग्ध्रीम्। भुजाभ्यामुच्छिन्ना रिपवो येन स भुजोच्छिन्नरिपुः।

भावार्थः—वाहुबलसमुद्घिशत्रुः राजादिलीपः धेन्वा सहाश्रमं परावर्त्य गुरोः गुरुपत्न्याश्च पादौ प्रणम्य सायं सन्ध्यावन्दनादिकं कृत्यं कृत्वा शयनार्थमासीनां नन्दिनीं पुनरपि सेवितवान् । रात्रौ तदन्तिके एव स्थितवानिति भावः ।

भाषार्थ—भुजवल से शत्रुओं के संहारक दिलीप अरुन्धती सहित वसिष्ठ को प्रणाम कर सायं काल के कृत्यों को समाप्त कर दुहने के बाद बैठी हुई नन्दिनी की सेवा करने लगे ॥२३॥

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥२४॥

अन्वयः—गोप्ता गृहिणीसहायः अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपां तां अन्वास्य क्रमेण सुप्तां अनुसंविवेश । प्रातः सुप्तोत्थितां अनु उदतिष्ठत् ।

सञ्जीविनी—तामिति । गोप्ता रक्षको गृहिणीसहायः पत्नीद्वितीयः सन् । उभावपीत्यर्थः । अन्तिके न्यस्ता बलयः प्रदीपाश्च यस्यास्तां तथोक्तां तां पूर्वोक्तां निषण्णां धेनुमन्वास्यानूपविश्य क्रमेण सुप्तामन्वनन्तरं संविवेश सुष्वाप । प्रातः सुप्तोत्थितामनूदतिष्ठदुत्थितवान् । अत्रानुशब्देन धेनुराजव्यापारयोः पौर्वापर्यमुच्यते क्रमशब्देन धेनुर्व्यापाराणामेवेत्यपौनरुक्त्यम् । 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीया ।

व्याख्या—गोप्ता = प्रजापालको राजा दिलीपः, गृहिणीसहायः = स्वधर्मपत्नीसहितः, सन् अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपां=समीपस्थापितोपहाररक्षादीपाम्, तां निषण्णां नन्दिनीम्, अन्वास्य = अनूपविश्य, तन्निकटे स्थित्वा, क्रमेण = यथाक्रमम्, सुप्तां = निद्रिताम्, अनु = पश्चात्, संविवेश = सुष्वाप, प्रातः = प्रभाते सुप्तोत्थिताम् = जागरिताम्, अनु = पश्चात्, उदतिष्ठत् = उत्तस्थौ ।

समासः—गृहिणी सहाया यस्य स गृहिणीसहायः । बलयश्च प्रदीपाश्च बलिप्रदीपाः, अन्तिके न्यस्ता बलिप्रदीपा यस्याः सा अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपा ताम् अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपाम् । आदौ सुप्ता पश्चाच्च उत्थितेति सुप्तोत्थिता ताम् सुप्तोत्थिताम् ।

भावार्थः—रात्रौ सुदक्षिणासहितो राजा दिलीपो नन्दिनीनिकटे प्रदीपोपहारान् संस्थाप्य तत्समीपे एवावस्थितः । निद्राकाले च सुप्तायां तस्यां सुष्वाप प्रातः पुनरुत्थितायां च सत्यां समुदतिष्ठत् ।

भाषार्थ—पालक राजा दिलीप पत्नीसहित पास में रखे हुये पूजोपहार औ

दीपक वाली नन्दिनी के निकट बैठ, उसके सोने के बाद सोते थे और सुबह उसके उठने के बाद उठते थे ॥२४॥

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः ।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥ २५ ॥

अन्वयः—इत्थं प्रजार्थं महिष्या समं व्रतं धारयतः महनीयकीर्तेः दीनोद्धरणोचितस्य तस्य त्रिगुणानि सप्त दिनानि व्यतीयुः ।

सञ्जीविनी—इत्थमिति । इत्थमनेन प्रकारेण प्रजार्थं सन्तानाय महिष्या सममभिषिक्तपत्न्या सह। 'कृताभिषेका महिषी' इत्यमरः । व्रतं धारयतः । महनीया पूज्या कीर्त्तिर्यस्य तस्य, दीनानामुद्धरणं दैन्यविमोचनं तत्रोचितस्य परिचितस्य तस्य नृपस्य, त्रयो गुणा आवृत्तयो येषां तानि त्रिगुणानि त्रिरावृत्तानि सप्त दिनान्येकविंशतिदिनानि व्यतीयुः ।

व्याख्या—इत्थम् = अनेन प्रकारेण, प्रजार्थं = सन्ततिप्राप्तये, महिष्या = स्वभार्यया राज्ञ्या सुदक्षिणया, समं = सार्द्धम्, व्रतं = नियमम्--ब्रह्मचर्याधःशयनादिकं दीक्षाविशेषम्, धारयतः = दधतः, महनीयकीर्तेः = वन्दनीययशसः, दीनोद्धरणोचितस्य = निराश्रयसंरक्षणप्रसक्तस्य, तस्य = राज्ञो दिलीपस्य, त्रिगुणानि-सप्त = त्रिरावृतानि सप्त, सप्तसंख्याकानि, दिनानि = अहानि, व्यतीयुः = व्यतीतानि ।

समासः—प्रजैवार्थः प्रयोजनं यस्य तत् प्रजार्थम् । महनीया कीर्तिः यस्य स महनीयकीर्तिः तस्य महनीयकीर्तेः । त्रयो गुणा येषां तानि त्रिगुणानि । दीनानामुद्धरणं दीनोद्धरणं दीनोद्धरणे उचितः दीनोद्धरणोचितः तस्य दीनोद्धरणोचितस्य ।

भावार्थः—अनेन क्रमेण नन्दिनीसेवानियमं स्वभार्यया सुदक्षिणया सह समाचरतो राज्ञो दिलीपस्य एकविंशतिदिनानि निर्विघ्न निर्गतानि ।

भाषार्थ—इस प्रकार पुत्र प्राप्ति के लिये अपनी धर्मपत्नी सुदक्षिणा के साथ व्रत को धारण करते हुये यशस्वी एवं दीनों के संरक्षक राजा दिलीप के त्रिगुण सात (७ × ३ = २१) दिन बीत गये ॥२५॥

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥२६॥

अन्वयः—अन्येद्युः मुनिहोमधेनुः आत्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना (सती) गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोः गह्वरम् आविवेश ।

सञ्जीविनी—अन्येद्युरिति । अन्येद्युरन्यस्मिन्दिने द्वाविंशे दिने । 'सद्यः परुत्परा–' इत्यादिना निपातनादव्ययत्वम् । 'अद्यात्राह्नाय पूर्वेऽह्नीत्यादौ पूर्वोत्तरापरात् । 'तथाऽधरान्यान्यतरेतरात्पूर्वेद्युरादयः' इत्यमरः । मुनिहोमधेनुः । आत्मानुचरस्य भावमभिप्रायं दृढभक्तित्वम् । 'भावोऽभिप्राय आशयः' इति यादवः । जिज्ञासमाना ज्ञातुमिच्छन्ती । 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इत्यात्मनेपदे शानच् । प्रपतन्त्यस्मिन्निति प्रपातः पतनप्रदेशः । गङ्गायाः प्रपातस्तस्यान्ते समीपे विरूढानि जातानि शष्पाणि बालतृणानि यस्मिंस्तत् । 'शष्पं बालतृणं घासः' इत्यमरः । गौरीगुरोः पार्वतीपितुर्गह्वरं गुहामाविवेश ।

व्याख्या—अन्येद्युः = अन्यस्मिन् दिने, मुनिहोमधेनुः = वसिष्ठयज्ञसाधनभूता नन्दिनी, आत्मानुचरस्य = स्वसेवकस्य राज्ञो दिलीपस्य, भावं = अभिप्रायम्, जिज्ञासमाना = ज्ञातुमिच्छन्ती, सती गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं = गङ्गाप्रवाहपतनप्रदेशसमीपांकुरितकोमलबालतृणम्, गौरीगुरोः = पार्वतीपितुः—हिमालयस्य गह्वरं = गुहाम् आविवेश = प्रविवेश ।

समासः—अन्यस्मिन्नहनि अन्येद्युः । अनुचरन्तीति अनुचरः आत्मनः अनुचरः आत्मानुचरः तस्य आत्मानुचरस्य । ज्ञातुमिच्छति जिज्ञासते जिज्ञासते इति जिज्ञासमाना । गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं = प्रपतत्यस्मिन्नसौ प्रपातः गङ्गायाः प्रपातः गङ्गाप्रपातः गङ्गाप्रपातस्य अन्तः गङ्गाप्रपातान्तः गङ्गाप्रपातान्ते विरूढानि शष्पाणि यस्य तत् गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पम् । गौर्या गुरुः गौरीगुरुः तस्य गौरीगुरोः ।

भावार्थः—द्वाविंशे दिने निजसेवातत्परस्य राज्ञो दिलीपस्य हृदयभक्तिं परीक्षितुमभिलषन्ती गङ्गाप्रपातसमीपे यत्र बालतृणानि प्ररूढानि आसन् तत्र गुहायां प्रविष्टा ।

भाषार्थ—बाईसवें दिन महर्षि वसिष्ठ की होमसाधनभूत नन्दिनी अपने अनुचर राजा दिलीप के भाव को जानने की इच्छा से गंगा के झरनों के पास घास से ढकी हुई हिमालय की गुफा में घुस गई ॥ २६ ॥

सा दुष्प्रधर्षा मनसाऽपि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥२७॥

अन्वयः—सा हिंस्रैः मनसा अपि दुष्प्रधर्षा इति अद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन नृपेण अलक्षिताभ्युत्पतनः सिंहः तां प्रसह्य चकर्ष किल ।

सञ्जीविनी—सेति । सा धेनुर्हिस्रैर्व्याघ्रादिभिर्मनसाऽपि दुष्प्रधर्षा दुर्धर्षेति हेतोरद्रिशोभायां प्रहितेक्षणेन दत्तदृष्टिना नृपेणालक्षितमभ्युत्पतनमाभिमुख्येनोत्पतनं यस्य स सिंहस्तां धेनुं प्रसह्य हठात् । 'प्रसह्य तु हठार्थकम्' इत्यमरः । चकर्ष । किलेत्यलीके ।

व्याख्या—सा = सौरभेयी, हिंस्रैः = हिंसकैः सिंहादिभिः मनसा अपि = अन्तःकरणेनापि, दुष्प्रधर्षा = धर्षयितुमशक्या, इति = हेतोः, अद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन = हिमालयसुपुभावलोकनदत्तदृष्टिना, नृपेण = राज्ञा दिलीपेन, अलक्षिताभ्युत्पतनः = अविज्ञाताक्रमणः, सिंहः = मायामयो मृगेन्द्रः, प्रसह्य = हठात्, चकर्ष = अकर्षत् ।

समासः—दुःखेन प्रधृष्यते या सा दुःखेन प्रधर्षयितुं शक्या वा दुष्प्रधर्षा । अद्रेः शोभा अद्रिशोभा अद्रिशोभायां प्रहिते ईक्षणे येनासौ अद्रिशोभाप्रहितेक्षणः तेन अद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन । न लक्षितम् अलक्षितम् अलक्षितम् अभ्युत्पतनं यस्यासौ अलक्षिताभ्युत्पतनः । नॄन् पातीति नृपः तेन नृपेण ।

भावार्थः—इयं नन्दिनी सिंहादिभिः हिंस्रकजन्तुभिः मनसापि धर्षयितुमशक्येति मनसि विचार्य राजा दिलीपः हिमालयस्य सौन्दर्यदर्शने यदा दत्तदृष्टिर्जातः तदा तेनादृष्ट एव मायामयः सिंहः नन्दिन्याम् उत्पत्य तां हठात् आक्रान्तवान् ।

भाषार्थ—'उस नन्दिनी के ऊपर हिंसक जन्तु मानसिक कल्पना द्वारा भी आक्रमण नहीं कर सकते' इस अभिप्राय से पर्वतीय शोभा देखने के लिए दृष्टि लगाये हुए राजा दिलीप के अनदेखे शेर ने उस नन्दिनी पर आक्रमण कर दिया ॥२७॥

तदीयमाक्रन्दितमार्त्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्त्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥२८॥

अन्वयः—गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घं तदीयम् आक्रन्दितं आर्तसाधोः नृपस्य नगेन्द्रसक्तां दृष्टिं रश्मिषु आदाय इव निवर्तयामास ।

सञ्जीविनी—तदीयमिति । गुहानिबद्धेन प्रतिशब्देन प्रतिध्वनिना दीर्घम् । तस्या इदं तदीयम् । आक्रन्दितमार्तघोषणम् । आर्तेषु विपन्नेषु साधोर्हितकारिणो नृपस्य नगेन्द्रसक्तां दृष्टिम् । रश्मिषु प्रग्रहेषु 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । आदायेव गृहीत्वेव निवर्तयामास ।

व्याख्या—गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घं = कन्दराव्याप्तप्रतिध्वनिदीर्घम्, तदीयं = धेनुसम्बन्धि, आक्रन्दितम् = आर्तस्वरः आर्तसाधोः = विपन्नोपकारिणः, नृपस्य = राज्ञो दिलीपस्य, नगेन्द्रसक्तां = हिमालयशोभावलोकनासक्ताम्, दृष्टिं = लोचनयुगलम्, रश्मिषु = प्रग्रहेषु, आदाय = गृहीत्वा, रज्जौ बद्ध्वा एव, निवर्तयामास = आचकर्ष।

समासः—तस्या इदं तदीयम्। गुहायां निबद्धः गुहानिबद्धः गुहानिबद्धश्चासो प्रतिशब्दः गुहानिबद्धप्रतिशब्दः गुहानिबद्धप्रतिशब्देन दीर्घं गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम्। नगेषु इन्द्रः नगेन्द्रः नगेन्द्रे सक्ता नगेन्द्रसक्ता तां नगेन्द्रसक्ताम्। आर्तेषु साधुः आर्तसाधुः तस्य आर्तसाधोः।

भावार्थः—सिंहाक्रमणेन कातरा नन्दिनी यदा तारस्वरेण आक्रन्दितवती तदा तदाक्रन्दितं गुहायां प्रतिध्वनितं सत् आर्तत्रातुर्दयालो राज्ञो दिलीपस्य पर्वतशोभावलोकनव्यापृतां दृष्टिं काम्ना बद्ध्वेव ततो निवर्तयामास।

भाषार्थ—गुफा में टकराई हुई प्रतिध्वनि से अधिक आवाज वाले उस नन्दिनी के डकारने की आवाज ने दीन-रक्षक राजा दिलीप की हिमालय में लगी हुई दृष्टि को लगाम में पकड़ कर अश्व के समान खींच लिया ॥२८॥

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥२९॥

अन्वयः—धनुर्धरः स नृपः पाटलायां गवि तस्थिवांसं केसरिणं सानुमतः धातुमय्याम् अधित्यकायां प्रफुल्लं लोध्रद्रुमम् इव ददर्श।

सञ्जीविनी—स इति। धनुर्धरः सः नृपः पाटलायां रक्तवर्णायां गवि तस्थिवांसं स्थितम्, 'क्वसुश्च' इति क्वसुप्रत्ययः। केसरिणं सिंहम्। सानुमतोऽद्रेः। धातोर्गैरिकस्य विकारो धातुमयो तस्यामधित्यकायामूर्ध्वभूमौ 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। 'उपाधिभ्यां०' इति त्यकन्प्रत्ययः। प्रफुल्लो विकसितस्तं 'फुल्ल विकसने' इति धातोः पचाद्यच्। प्रफुल्लतमिति तकार-पाठे 'ञिफला विसरणे' इति धातोः कर्त्तरि क्तः। 'उत्परस्यातः' इत्युकारादेशः। लोध्राख्यं द्रुममिव ददर्श।

व्याख्या—धनुर्धरः = धानुष्कः, सः = राजा दिलीपः, पाटलायां = आरक्तवर्णायाम्, गवि = धेनौ, तस्थिवांसं = स्थितम्, केसरिणं = सिंहम्, सानुमतः = पर्वतस्य धातुमय्यां = गैरिकादि प्रचुरायाम्, अधित्यकायां = अद्रेरूर्ध्वभूमौ,

प्रफुल्लं = विकसितम्, लोध्रद्रुमं — लोध्रपादपम्, इव = यथा, ददर्श = अवलोकयामास ।

समासः—तस्थौ इति तस्थिवान् तं तस्थिवन्तम् । धरतीति धरः धनुषो धरः धनुर्धरः । धातो विकारः धातुमयी तस्यां धातुमय्याम् । केसरा सन्ति अस्येति केसरी तं केसरिणम् । लोध्रश्चासौ द्रुमः लोध्रद्रुमः तं लोध्रद्रुमम् । सानूनि सन्ति अस्येति सानुमान् तस्य सानुमतः ।

भावार्थः—चापधारी राजा दिलीपः रक्तवर्णायां नन्दिन्याम् आक्रम्य आसीनं धवलवर्णं सिंहं मनःशिलागैरिकादि-धातुरक्तायां पर्वतस्योर्ध्वभूमौ विकसितं धवलं लोध्रवृक्षमिवापश्यत् ।

भाषार्थ—धनुर्धारी राजा दिलीप लालरंग की नन्दिनी पर बैठे हुए शेर को पर्वतीय गेरुधातु वाली ऊपर की भूमि पर विकसित लोध्र के वृक्ष समान देखा ।

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः ॥३०॥

अन्वय —ततः मृगेन्द्रगामी, शरण्यः, प्रसभोद्धृतारिः, नृपतिः जाताभिषङ्गः (सन्) वध्यस्य मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात्, शरम् उद्धर्तुम्, ऐच्छत् ।

सञ्जीविनी—तत इति । ततः सिंहदर्शनानन्तरं मृगेन्द्रगामी सिंहगामी । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । 'शरणं रक्षणे गृहे' इति यादवः । शरणे साधुः शरण्यः ।'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्ययः । प्रसभेन बलात्कारेणोद्धृता अरयो येन स नृपतिः राजा जाताभिषङ्गो जातपराभवः सन् । 'अभिषङ्गः पराभवे' इत्यमरः । वध्यस्य वधार्हस्य । 'दण्डादिभ्यो यत्' इति यत्प्रत्ययः । मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात् तूणीरात् । 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः' इत्यमरः । शरमुद्धर्तुमैच्छत् ।

व्याख्या—ततः = सिंहदर्शनानन्तरम्, मृगेन्द्रगामी = सिंहगतिः, शरण्यः = शरणागतवत्सलः, प्रसभोद्धृतारिः = बलादुन्मूलितशत्रुः, नृपतिः = राजा दिलीपः, जाताभिषङ्गः = जातपराभवः सन् वध्यस्य = वधार्हस्य, मृगेन्द्रस्य = सिंहस्य, वधाय = व्यापादनाय, निषङ्गात् = तूणीरात्, शरं = बाणम्, उद्धर्तुं = निष्कासयितुम्, ऐच्छत् = अभिलषितवान् ।

समासः—मृगाणामिन्द्रः मृगेन्द्रः तस्य मृगेन्द्रस्य । मृगेन्द्र इव गच्छति तच्छीलः मृगेन्द्रगामी । वधमर्हतीति वध्यस्तस्य वध्यस्य । शरणे साधुः शरण्यः ।

जातः अभिषङ्गो यस्यासौ जाताभिषङ्गः। प्रसभम् उद्धृता अरयो येनासौ प्रसभोद्धृतारिः।

भावार्थः—सिंहगमनः शरणागतवत्सलो राजा दिलीपः नन्दिन्यां स्थितं सिंहं विलोक्य तदा क्रमेणात्मानं पराजयं मन्यमानः आक्रमणकारिणः तस्य वधाय तूणीरात् बाण निष्कासयितुमियेष ।

भाषार्थ—बाद सिंह के समान निर्भीक चलने वाले शरणागतरक्षक शत्रुओं को उखाड़ फेंकने वाले राजा दिलीप ने अपमान का अनुभव करके मारने योग्य उस शेर के वध के लिये तरकस से बाण निकालने की इच्छा की ॥ ३० ॥

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्त्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥३१॥

अन्वयः—प्रहर्तुः तस्य वामेतरः करः नखप्रभाभूषितकंकपत्रे सायकपुङ्खे एव सक्ताङ्गुलिः (सन्) चित्रार्पितारम्भ इव अवतस्थे ।

सञ्जीविनी—वामेतर इति । प्रहर्त्तुस्तस्य वामेतरो दक्षिणः करः । नखप्रभाभिर्भूषितानि विच्छुरितानि कङ्कस्य पक्षिविशेषस्य पत्राणि यस्य तस्मिन् । 'कङ्कः पक्षिविशेषे स्याद् गुप्ताकारे युधिष्ठिरे' इति विश्वः । 'कङ्कस्तु कर्कटः' इति यादवः । सायकस्य पुङ्ख एव कर्त्तर्याख्ये मूलप्रदेशे । 'कर्त्तरि पुङ्खे' इति यादवः । सक्ताङ्गुलिः सन् । चित्रार्पितारम्भश्चित्रलिखितशरोद्धरणोद्योग इव अवतस्थे ।

व्याख्या—प्रहर्तुः = प्रहारकस्य, तस्य = राज्ञो दिलीपस्य, वामेतरः = दक्षिणः, करः = हस्तः, नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे = नखकान्त्यलङ्कृतगृध्रपक्षे, सायकपुङ्खे = बाणमूले, एव सक्ताङ्गुलिः = आसक्तकरशाखः, सन् चित्रार्पितारम्भः = चित्रलिखितबाणाकर्षणोद्योगः, इव = यथा अवतस्थे = अतिष्ठत् ।

समासः—वामात् इतरः वामेतरः । प्रहरतीति प्रहर्ता तस्य प्रहर्तुः । नखाणां प्रभाः नखप्रभाः, नखप्रभाभिः भूषितानि नखप्रभाभूषितानि, कङ्कस्य पत्राणि कङ्कपत्राणि, नखप्रभाभूषितानि कङ्कपत्राणि यस्य स नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रः तस्मिन् नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे । सायकस्य पुङ्खः सायकपुङ्खः तस्मिन् सायकपुङ्खे ।

भावार्थः—सिंहं प्रहर्तुं तूणीरात् बाणमाकर्षतोऽस्य राज्ञः शरमूले निहितो दक्षिणहस्तः चित्रलिखित इव कुण्ठितो जातः ।

भाषार्थ—प्रहारक उस राजा का दाहिना हाथ नखों की कान्ति से विभूषित

कंक पक्षी के पंखों वाले बाण की पूछ में चिपकी अंगुली वाला चित्र में लिखित के समान हो गया ॥३१॥

बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥३२॥

अन्वयः—बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः राजा मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः भोगी इव अभ्यर्णम् आगस्कृतम् अस्पृशद्भिः स्वतेजोभिः अन्तः अदह्यत ।

सञ्जीविनी—बाहुप्रतिष्टम्भेति । बाह्वोः प्रतिष्टम्भेन प्रतिबन्धेन । 'प्रतिबन्धः प्रतिष्टम्भः' इत्यमरः । विवृद्धमन्युः प्रवृद्धरोषो राजा । मन्त्रौषधिभ्यां रुद्धवीर्यः प्रतिबद्धशक्तिर्भोगी सर्प इव 'भोगी राजभुजङ्गयोः' इति शाश्वतः । अभ्यर्णमन्तिकम् । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' इत्यमरः । आगस्कृतमपराधकारिणमस्पृशद्भिः स्वतेजोभिरन्तरदह्यत । 'अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि' इति यादवः ।

व्याख्या—बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः = स्वभुजावरोधप्रवृद्धकोपः, राजा = दिलीपः, मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः = मणिमन्त्रभेषजप्रतिबद्धशक्तिः, भोगी = सर्पः, इव = यथा, अभ्यर्णं = अन्तिकम्, आगस्कृतम् = अपराधकारिणं सिंहम्, अस्पृशद्भिः = अदहद्भिः, स्वतेजोभिः = निजपराक्रमैः, अन्तः = स्वान्तःकरणे एव, स्वयमेव, अदह्यत = अतप्यत ।

समासः—बाह्वोः प्रविष्टम्भः बाहुप्रतिष्टम्भः बाहुप्रतिष्टम्भेन विवृद्धः मन्युः यस्य स बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः । मन्त्रश्च औषधिश्च मन्त्रौषधी ताभ्यां रुद्धं वीर्यं यस्य स मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः । भोगः अस्यास्तीति भोगी । न स्पृशन्ती अस्पृशन्ती तैः अस्पृशद्भिः । स्वस्य तेजांसि स्वतेजांसि तैः स्वतेजोभिः । आगः कृतवानिति आगस्कृत् तम् आगस्कृतम् ।

भावार्थः—स्वभुजस्तम्भेन प्रवृद्धकोपः राजादिलीपः सम्मुखस्थं स्वस्थमपि शत्रुभूतं सिंहं हन्तुमसमर्थः गरुडमन्त्रेण ओषधिना वा निरुद्धप्रभावः सर्पं इव स्वक्रोधेन स्वयमेव अभ्यन्तरे तापमन्वभवत् ।

भाषार्थ—हाथ के चिपक जाने से बढ़े हुये क्रोधवाले साँप के समान सामने खड़े हुये अपराधी सिंहको छूने की सामर्थ्य न रखने वाले अपने तेज से भीतर ही भीतर जलने लगे ॥३२॥

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥३३॥

अन्वयः—निगृहीतधेनुः सिंहः आर्यगृह्यं मनुवंशकेतुं सिंहोरुसत्त्वम् आत्मवृत्तौ विस्मितं तं मनुष्यवाचा विस्माययन्, निजगाद ।

सञ्जीविनी—तमिति । निगृहीता पीडिता धेनुर्येन स सिंहः आर्याणां सतां गृह्यं पक्ष्यम् 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च' इति क्यप् । मनुवंशस्य केतुं चिह्नं केतुवद्व्यावर्तकम् । सिंह इवोरुसत्त्वो महाबलस्तम् । आत्मनो वृत्तौ बाहुस्तम्भरूपे व्यापारेऽभूतपूर्वत्वाद्विस्मितम् । कर्तरि क्तः । तं दिलीपं मनुष्यवाचा करणेन पुनर्विस्माययन्विस्मयमाश्चर्यं प्रापयन्निजगाद । 'स्मिङ् ईषद्धसने' इति धातोर्णिचि वृद्धावायादेशे शतृप्रत्यये च सति विस्माययन्निति रूपं सिद्धम् । 'विस्मापयन्' इति पाठे पुगागममात्रं वक्तव्यम् । तच्च 'नित्यं स्मयतेः' इति हेतुभयविवक्षायामेवेति "भीस्म्योर्हेतुभये' इत्यात्मनेपदे 'विस्मापयमान' इति स्यात् । तस्मान्मनुष्यवाचा विस्माययन्निति रूपं सिद्धम् । करणविवक्षायां न कश्चिद्दोषः ।

व्याख्या—निगृहीतधेनुः = आक्रान्तनन्दिनीकः, सिंहः = मृगेन्द्रः, आर्यगृह्यं = सत्पक्षपातिनम्, मनुवंशकेतुं = वैवस्वतमनुकुलभूषणम्, सिंहोरुसत्त्वं = केसरितुल्यविपुलपराक्रमम्, आत्मवृत्तौ = स्वबाहुप्रतिष्टम्भरूपे व्यापारे, विस्मितं = चकितम्, तं = राजानम्, मनुष्यवाचा = नरवाण्या, विस्माययन् = आश्चर्यं प्रापयन्निव, निजगाद = इत्थमुवाच ।

समासः—निगृहीता धेनुर्येन स निगृहीतधेनुः । आर्याणां गृह्यः आर्यगृह्यः तम् आर्यगृह्यम् । मनोर्वंशः मनुवंशः मनुवंशस्य केतुः मनुवंशकेतुः तं मनुवंशकेतुम् । सिंहस्य इव उरु सत्त्वं यस्य सः, यद्वा उरु सत्त्वं यस्य स उरुसत्त्वः सिंह इव उरुसत्त्वः सिंहोरुसत्त्वः तं सिंहोरुसत्त्वम् । आत्मनो वृत्तिः आत्मवृत्तिः तस्याम् आत्मवृत्तौ । मनुष्याणां वाक् मनुष्यवाक् तया मनुष्यवाचा ।

भावार्थः—आक्रान्तधेनुः सिंहः महापराक्रमशालिनं स्वहस्तावष्टम्भाद् आश्चर्यचकितं राजानं दिलीपं मनुष्यवाण्या पुनरपि विस्मितं कुर्वन् इत्थमुवाच ।

भाषार्थ—नन्दिनी पर आक्रमण करने वाले सिंह ने उस सत्पक्षपाती, मनुवंश के भूषण, शेर के समान पराक्रमी अपने हाथ के व्यापार में चकित हुये राजा दिलीप को मनुष्य की बोली से और भी चकित करते हुए कहा ॥३३॥

अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ।।३४।

अन्वयः—हे महीपाल ! तव श्रमेण अलम् । इतः प्रयुक्तम् अपि अस्त्रम् वृथा स्यात् पादपोन्मूलनशक्तिः मारुतस्य रंहः, शिलोच्चये न मूर्च्छति ।

सञ्जीविनी—अलमिति । हे महीपाल ! तव श्रमेणालम् । साध्याभावाच्छ्रमो न कर्त्तव्य इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया श्रमस्य करणत्वात्तृतीया । उक्तं च न्यासोद्द्योते—"न केवलं श्रूयमाणैव क्रियानिमित्तं करणभावस्य । अपि तर्हि गम्यमानाऽपि" इति । 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः । इतोऽस्मिन्मयि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । प्रयुक्तमप्यस्त्रं वृथा स्यात् । तथा हि—पादपोन्मूलन शक्तिर्यस्य तत्तथोक्तं, मारुतस्य रंहो वेगः शिलोच्चये पर्वते न मूर्च्छति न प्रसरति ।

व्याख्या—हे महीपाल = हे भूपते, तव = भवतः, श्रमेण = शराकर्पणप्रयासेन, अलं = न प्रयोजनम्, इतः = मयि सिंहे प्रयुक्तं = निक्षिप्तम्, अपि अस्त्रं = बाणादिकम्, वृथा = व्यर्थम्, स्यात् = भवेत् । यतः पादपोन्मूलनशक्तिः = वृक्षोत्पाटनसमर्थम्, मारुतस्य = वायोः, रंहः = वेगः शिलोच्चये = पर्वते, न मूर्च्छति = न प्रसरति ।

समासः—महीं पालयतीति महीपालः तत्सम्बुद्धौ हे महीपाल । पादैः पिबन्तीति पादपाः पादपानाम् उन्मूलनं पादपोन्मूलनं पादपोन्मूलने शक्तिर्यस्य तत् पादपोन्मूलनशक्तिः । शिलाभिरुच्चीयते इति शिलोच्चयः तस्मिन् शिलोच्चये ।

भावार्थः—सिंहो दिलीपमुक्तवान्–राजन् ! मां प्रहर्तुं परिश्रमं मा कुरु, साम्प्रतं त्वमस्त्रं प्रयोक्तुमसमर्थोऽसि, दैवात् समर्थोऽपि भवेश्चेत् तदस्त्रं मम न किमपि कर्तुं प्रभवेत्, यतो हि वायोर्यो वेगः तरूनुन्मूलयति स किमपि पर्वते कर्तुं शक्नुयात् । यथा वृक्षोत्पाटनसमर्थः पवनः पर्वतं नोत्पाटयितुं शक्नुयात्तथैव त्वमपि मयि किमपि कर्तुं न प्रभविष्यसि ।

भाषार्थ—हे राजन् ! परिश्रम करना बेकार है, मेरे ऊपर चलाया हुआ आपका बाण विफल हो जायेगा, क्योंकि वृक्ष को उखाड़ने की शक्ति रखने वाली वायु का वेग पहाड़ के सामने निष्फल हो जाता है ।।३४।।

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पदार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्त्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ।।३५।।

अन्वयः—कैलासगौरं वृषम् आरुरुक्षोः अष्टमूर्तेः पादार्पणानुग्रहपूतपृ[ष्ठं] निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं माम् अवेहि।

सञ्जीविनी—कैलासेति। कैलास इव गौरः शुभ्रस्तम्। 'चामीकरं च शुभ्[रं] च गौरमाहुर्मनीषिणः' इति शाश्वतः। वृषं वृषभमारुरुक्षोरारोढुमिच्छोः स्त्रस्योप[रि] पदं निक्षिप्य वृषमारोहतीत्यर्थः। अष्टौ मूर्त्तयो यस्य स तस्याष्टमूर्त्तेः शिवस्[य] पादार्पणं पादन्यासस्तदेवानुग्रहः प्रसादस्तेन पूतं पृष्ठं यस्य तं तथोक्तम्। निकुम्भ[-] मित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं मामवेहि विद्धि। 'पृथिवी सलिलं तेजो वायुराका[श]मेव च। सूर्याचन्द्रमसौ सोमयाजी चेत्यष्टमूर्त्तयः'॥ इति यादवः।

व्याख्या—कैलासगौरं = कैलासवद्धवलवर्णम्, वृषं = वृषभं नन्दिनम्, आरु[-] रुक्षोः = आरोढुमिच्छतः, अष्टमूर्त्तेः = भगवतः शिवस्य, पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठं = चरणविन्यासप्रसादपवित्रपृष्ठभागम्, निकुम्भमित्रं = निकुम्भसखायम्, कुम्भोद[रं] नाम = कुम्भोदरनामकम्, किङ्करं = शिवानुचरम्, मां = सिंहम्, अवेहि=जानीहि।

समासः—कैलास इव गौरः कैलासगौरः तं कैलासगौरम्। आरोढुमिच्छ[ति] आरुरुक्षति आरुरुक्षतीत्यारुरुक्षुः तस्य आरुरुक्षोः। पादयोरर्पणं पदार्पणं पादार्प[ण]मेवानुग्रहः पादार्पणानुग्रहः, पादार्पणानुग्रहेण पूतं पृष्ठं यस्यासौ पादार्पणानुग्र[ह]पूतपृष्ठः तं पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्। अष्टौ मूर्त्तयो यस्यासौ अष्टमूर्त्तिः तस्याष्टमूर्त्तेः निकुम्भस्य मित्रं निकुम्भमित्रं तत् निकुम्भमित्रम्।

भावार्थः—सिंहः स्वपरिचयं ददद्वाच—राजन्, यदा भगवान् सदाशि[वः] नन्दिकेश्वरमारोढुमभिलषेति तदा मम पृष्ठे पादौ धृत्वैव तमारोहति तेन शिवानुग्रहेण पवित्रपृष्ठभागोऽनिकुम्भस्य सुहृत् कुम्भोदरनामाहं तव सम्मु[खे] स्थितोऽस्मीति जानीहि।

भाषार्थ—कैलास पर्वत के समान सफेद बैल पर चढ़ने वाले शंकर जी [के] चरण रखने से पवित्र पीठ वाला निकुम्भ का मित्र कुम्भोदर नाम से प्रसिद्ध [मुझे] शंकर जी का अनुचर समझो ॥३५॥

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥३६॥

अन्वयः—पुरः अमुं देवदारुं पश्यसि (किम् ?) असौ वृषभध्वजेन पुत्रीकृ[तः] यः स्कन्दस्य मातुः हेमकुम्भस्तननिःसृतानां, पयसां रसज्ञः (अस्ति)।

सञ्जीविनी—अमुमिति। पुरोऽग्रतोऽमुं देवदारुं पश्यसि इति काकुः।

देवदारुः । वृषभो ध्वजो यस्य स तेन शिवेन पुत्रीकृतः पुत्रत्वेन स्वीकृतः । अभूततद्भावे च्विः । यो देवदारुः स्कन्दस्य मातुर्गौर्या हेम्नः कुम्भ एव स्तनस्तस्मान्निःसृतानां पयसामम्बूनां रसज्ञः स्वादज्ञः स्कन्दपक्षे—हेमकुम्भ इव स्तन इति विग्रहः। पयसां क्षीराणाम् । 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः । स्कन्दसमानप्रेमास्पदमिति भावः ।

व्याख्या—पुरः = अग्रतः, अमुं = इमम्, देवदारुं = सुरद्रुमम्, पश्यसि = त्वमवलोकयसि किम् ? अवश्यमेव त्वं पश्यसि । यः = देवदारुः, स्कन्दस्य = कार्तिकेयस्य, मातुः = जनन्याः पार्वत्याः, हेमकुम्भस्तननिःसृतानां = कनककलशरूपपयोधनिर्गतानाम्, यद्वा हेमकलसोपमगौरीस्तननिर्गतानाम्, पयसां = जलानाम्, क्षीराणाञ्च रसज्ञः = स्वादज्ञः, अनुभविता असौः = देवदारुः, वृषभध्वजेन = भगवता शिवेन, पुत्रीकृतः = स्वपुत्रत्वेनाङ्गीकृतः ।

समासः—अपुत्रः पुत्रः सम्पद्यमानः कृतः पुत्रीकृतः । वृषभो ध्वजे यस्यासौ वृषभध्वजः तेन वृषभध्वजेन । हेम्नः कुम्भः हेमकुम्भः । हेमकुम्भ एव स्तनः हेमकुम्भस्तनः तस्मान्निःसृतानि हेमकुम्भस्तननिःसृतानि तेषां हेमकुम्भस्तननिःसृतानम्, यद्वा हेमकुम्भौ इव स्तनौ हेमकुम्भस्तनौ ताभ्यां निर्गतानि तेषां वा समासो ज्ञेयः । रसं जानातीति रसज्ञः ।

भावार्थः—राजन्, पुरः स्थितोऽसौ देवदारुः भगवतः शिवस्य पुत्रवत् प्रियोऽस्ति । स्वयं भगवती पार्वती कनककुम्भवत्स्वस्तननिर्गतेन पयसा स्कन्द इव स्तनसदृशेन कनकघटेन जलमासिच्य एनं पोषितवती ।

भावार्थ—सामने उस देवदारु वृक्ष को देख रहे हो न ? उसे शंकर जी ने पुत्र के समान माना है, जो कार्तिकेय की माता पार्वती के सोने के घटरूपी स्तनों से निकले हुए दूधरूपी जल के स्वाद को जानने वाला है ॥३६॥

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥३७॥

अन्वयः—कदाचित् कटं कण्डूयमानेन वन्यद्विपेन अस्य त्वक् उन्मथिता । अथ अद्रेः तनया असुरास्त्रैः आलीढं सेनान्यम् इव एनं शुशोच ।

सञ्जीविनी—कण्डूयमानेति । कदाचित्कटं कपोलं कण्डूयमानेन घर्षयता । 'कण्वादिभ्यो यक्' इति 'यक्' ततः शानच् । वन्यद्विपेनास्य देवदारोस्त्वगुन्मथिता । अथाद्रेस्तनया गौरी असुरास्त्रैरालीढं क्षतम् । सेनां नयतीति सेनानीः स्कन्दः ।

'पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीः' इत्यमरः। 'सत्सूद्विष–' इत्यादिना क्विप्। तमिव। एनं देवदारुं शुशोच।

व्याख्या—कदाचित् = कस्मिंश्चित् काले, कटं = स्वकपोलम्, कण्डूयमानेन = घर्षयता, वन्यद्विपेन = आरण्यककरिणा, अस्य = शिवगौरीप्रियस्य देवदारोः, त्वक् = वल्कलम्, उन्मथिता = उत्पाटिता, अथ = अनन्तरम्, अद्रेः तनया = पर्वतराजपुत्री पार्वती, असुरास्त्रैः = दानवायुधैः, आलीढं = क्षतम्, सेनान्यं = स्कन्दनामानं स्वपुत्रम्, इव = यथा, एनं = देवदारुम्। शुशोच = चिन्तयामास।

समासः—कण्डूयते इति कण्डूयमानः तेन कण्डूयमानेन। वने भवो वन्यः वन्यश्चासौ द्विपः वन्यद्विपः तेन वन्यद्विपेन। सेनां नयतीति सेनानी तं सेनान्यम्, असुराणामस्त्राणि असुरास्त्राणि तैः असुरास्त्रैः।

भावार्थः—एकदा वन्यो गजो गण्डस्थलं घर्षयन् अस्य देवदारोः त्वचं विदारितवान्। तदवलोक्य पार्वत्या तावानेव विषादो जातः यावान् युद्धे असुराणामस्त्रैः विक्षतं स्कन्दमालोक्य जात आसीत्।

भाषार्थ—किसी समय कनपटी खजुलाते-खजुलाते एक जंगली हाथी ने इस देवदारु वृक्ष की छाल को छुड़ा दिया था। तब हिमालय की पुत्री पार्वती ने दैत्यों के अस्त्रों से घायल कार्तिकेय के समान इस देवदारु के प्रति शोक किया था ॥३७॥

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति ॥ ३८ ॥

अन्वयः—तदाप्रभृति, एव, वनद्विपानां, त्रासार्थं, शूलभृता, अङ्कागतसत्त्ववृत्ति, सिंहत्वं, विधाय, अस्मिन् अद्रिकुक्षौ अहं व्यापारितः।

सञ्जीविनी—तदेति। तदा तत्कालः प्रभृतिरादिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थं भयार्थं शूलभृता शिवेन अङ्कं समीपमागताः प्राप्ताः सत्त्वाः प्राणिनो वृत्तिर्यस्मिंस्तत् 'अङ्कः समीप उत्सङ्गे चिह्नेः स्थानापराधयोः' इति केशवः। सिंहत्वं विधाय। अस्मिन्नद्रिकुक्षौ गुहायामहं व्यापारितो नियुक्तः।

व्याख्या—तदाप्रभृत्येव = तं कालमारभ्यैव, वनद्विपानाम् = आरण्यकगजानाम्, त्रासार्थं = भयाय, शूलभृता = शूलपाणिना शिवेन, अङ्कागतसत्त्ववृत्ति = समीपागतजन्तुभक्षणमात्रजीविकम्, सिंहत्वं = मृगेन्द्रत्वम्, विधाय = कृत्वा अस्मिन् = अमुष्मिन्, अद्रिकुक्षौ = पर्वतगह्वरे अहं = कुम्भोदरो नाम गणः व्यापारितः = नियुक्तः।

समासः—तदा प्रभृतिः आदिर्यस्मिन् कर्मणि तत् तदाप्रभृति । वनस्य वने वा द्विपा वनद्विपाः तेषां वनद्विपानाम् । शूलं बिभर्त्तीति शूलभृत् तेन शूलभृता । अङ्कमागताः सत्त्वा वृत्तिर्यस्मिन् तत् अङ्कागतसत्त्ववृत्ति तत् अङ्कागतसत्त्ववृत्ति । सिंहस्य भावः सिंहत्वं तत् सिंहत्वम् । अद्रेः कुक्षिः अद्रिकुक्षिः तस्मिन् अद्रिकुक्षौ ।

भावार्थः—पार्वतीशोकसमयादेव भगवान् शिवः आरण्यकगजानां भयार्थं मां सिंहं विधायात्र नियुक्तवान् उक्तवांश्च मां यदत्र यदृच्छागतजन्तुमात्रभक्षणमेव ते जीविका भविष्यति । अतोऽहं क्षणमात्रमपि इतोऽन्यत्र गन्तुं न शक्नोमि ।

भाषार्थ—उसी समय से ही जंगली हाथियों को डराने के लिए शिवजी ने समीप में आए हुए प्राणियों से जीवन निर्वाह करने वाली सिंहवृत्ति देकर इस पर्वत की गुफा में नियुक्त कर दिया है ॥ ३८ ॥

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥३९॥

अन्वयः—परमेश्वरेण प्रदिष्टकाला उपस्थिता एषा शोणितपारणा सुरद्विषः चान्द्रमसी सुधा इव तस्य क्षुधितस्य मे तृप्त्यै, अलम् ।

सञ्जीविनी—तस्येति । परमेश्वरेण प्रदिष्टो निर्दिष्टः कालो भोजनवेला यस्याः सोपस्थिता प्राप्तैषा गोरूपा शोणितपारणा रुधिरस्य व्रतान्तभोजनं, सुरद्विषो राहोः, चन्द्रमस इयं चान्द्रमसी सुधेव, क्षुधितस्य बुभुक्षितस्य तस्याङ्कागतसत्त्ववृत्तेर्मे मम सिंहस्य तृप्त्या अलं पर्याप्ता । 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' इत्यनेन चतुर्थी ।

व्याख्या—परमेश्वरेण = परमात्मना शिवेन, प्रदिष्टकाला = निर्दिष्टभक्षणसमया, उपस्थिता = प्राप्ता, एषा = पुरोवर्तिनी गोरूपा, शोणितपारणा = रक्तात्मकं व्रतान्तभोजनम्, सुरद्विषः = राहोः, चान्द्रमसी = चन्द्रसम्बन्धिनी, सुधा = अमृतम्, इव = यथा क्षुधितस्य = बुभुक्षितस्य, मे = मम, तृप्त्यै = परितुष्ट्ये, अलं = पर्याप्ता भविष्यतीति शेषः ।

समासः—प्रदिष्टः कालो यस्याः सा प्रदिष्टकाला । परमश्चासावीश्वरः परमेश्वरः तेन परमेश्वरेण । शोणितस्य पारणा शोणितपारणा । सुरान् द्वेष्टीति सुरद्विट् तस्य सुरद्विषः ।

भावार्थः—बहोः कालात् अलब्धभोजनस्य व्रतिन इव मे परमेश्वरानुकम्पया

उपस्थिता इयं गौः पारणा (व्रतान्तभोजनम्) भविष्यति । शिवाज्ञया अङ्कागत-प्राणिभक्षणमेव मम जीविका विद्यते । राहोः चन्द्रसुधा यथा तृप्तिं जनयति तथैवेय-मपि नन्दिनी मे तृप्तिं जनयिष्यति ।

भाषार्थ—उस मुझ भूखे के भरपेट भोजन के लिए, शंकर जी के बताये हुए भोजन के समय पर उपस्थित, यह रुधिर की पारणा (गोरक्त) राहु के लिए चान्द्र सम्बन्धी अमृत के समान काफी है ॥३९॥

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः ।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥४०॥

अन्वयः—सः त्वं लज्जां विहाय निवर्तस्व भवान् गुरोः दर्शितशिष्यभक्तिः (अस्ति) । यत् रक्ष्यं शस्त्रेण अशक्यरक्षं तत् (नष्टम् अपि) शस्त्रभृतां यशः न क्षिणोति ।

सञ्जीविनी—स त्वमिति । स एवमुपायशून्यस्त्वं लज्जां विहाय निवर्त्तस्व । भवांस्त्वं गुरोर्दर्शिता प्रकाशिता शिष्यस्य कर्त्तव्या भक्तिर्येन स तथोक्तोऽस्ति । ननु गुरुधनं विनाश्य कथं तत्समीपं गच्छेयमत आह—शस्त्रेणेति । यद्रक्ष्यं धनं शस्त्रेणा-युधेन । 'शस्त्रमायुधलोहयोः' इत्यमरः । अशक्या रक्षा यस्य तदशक्यरक्षम् । रक्षितुमशक्यमित्यर्थः । तद्रक्ष्यं नष्टमपि शस्त्रभृतां यशो न क्षिणोति न हिनस्ति । अशक्यार्थेष्वप्रतिविधानं न दोषायेति भावः ।

व्याख्या—सः = लोकप्रसिद्धः, त्वं = गत्यन्तररहितो भवान्, लज्जां = व्रीडाम्, विहाय = परित्यज्य, निवर्तस्व = पराङ्मुखो भूत्वा वसिष्ठाश्रम परा-वर्तस्व, भवान् = श्रीमान्, गुरोः = वसिष्ठस्य विषये, दर्शितशिष्यभक्तिः = प्रदर्शित-शिष्यश्रद्धः अस्ति । यत् रक्ष्यं = रक्षणीयं वस्तु, शस्त्रेण = आयुधेन, अशक्यरक्ष्यं = असाध्यत्राणम्, तत् = रक्षितुमशक्यं वस्तु शस्त्रभृतां = अस्त्रधारिणाम्, यशः = कीर्तिम्, न क्षिणोति = नैव ह्रासयति ।

समासः—शिष्यस्य भक्तिः शिष्यभक्तिः दर्शिता शिष्यभक्तिर्येन स दर्शित-शिष्यभक्तिः । न शक्या अशक्या अशक्या रक्षा यस्य तत् अशक्यरक्षम् । रक्षितुं योग्यं रक्ष्यम् । शस्त्रं बिभ्रति इति शस्त्रभृतः तेषां शस्त्रभृताम् ।

भावार्थः—राजन् ! अलं लज्जया, मद्विषये कुण्ठितशस्त्रप्रभावो भवान् उपा-यान्तराभावात् लज्जां सङ्कोचं वा विहाय वसिष्ठाश्रमं प्रति याहि । गोरक्षणे कृतप्रयत्नत्वात्त्वया गुरौ भक्तिः प्रकटिता । रक्षणार्हमपि वस्तु शस्त्रसाध्यं न

चेत्तर्हि शस्त्रधारिणां वीरतां कीर्तिं वा न दूषयति। इयं हि नन्दिनी भवता शस्त्रबलेन मत्सकाशात् रक्षितुं न शक्या। अशक्ये कार्ये अप्रवृत्तिर्नैव दोषाय कल्पते इति भावः।

भाषार्थ—इस प्रकार उपायरहित तुम लज्जा को छोड़कर जाओ। तुमने गुरु भक्ति दिखला दी। जो रक्षा करने के योग्य वस्तु शस्त्र से नहीं चाही जा सकती वह नष्ट होती हुई भी शस्त्रधारियों की कीर्ति को दूषित नहीं कर सकती ॥४०॥

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥४१॥

अन्वयः—मृगाधिराजस्य इति प्रगल्भं वचः निशम्य गिरिशप्रभावात् प्रत्याहतास्त्रः पुरुषाधिराजः आत्मनि अवज्ञां शिथिलीचकार।

सञ्जीविनी—इतीति। पुरुषाणामधिराजो नृप इति प्रगल्भं मृगाधिराजस्य वचो निशम्य श्रुत्वा गिरिशस्येश्वरस्य प्रभावात्प्रत्याहतास्त्रः कुण्ठितास्त्रः सन्नात्मनि विषयेऽवज्ञामपमानं शिथिलीचकार। तत्याजेत्यर्थः। अवज्ञातोऽहमिति निर्वेदं न प्रापेत्यर्थः। समानेषु हि क्षत्रियाणामभिमानो न सर्वेश्वरं प्रतीति भावः।

व्याख्या—पुरुषाधिराजः = नराधीश्वरो राजा दिलीपः, मृगाधिराजस्य = मृगेन्द्रस्य केशरिणः, इति = इत्थम्, प्रगल्भं = विस्पष्टम्, वचः = वाक्यम्, निशम्य = श्रुत्वा, गिरिशप्रभावात् = महेश्वरमहिम्नः, प्रत्याहतास्त्रः = कुण्ठित-शस्त्रः, आत्मनि = स्वविषये, अवज्ञां = अर्हणाम्। शिथिलीचकार = तत्याज।

समासः—अधिको राजा, अधिराजते वेत्यधिराजः पुरुषाणाम् अधिराजः पुरुषाधिराजः। मृगाणामधिराजः मृगाधिराजः तस्य मृगाधिराजस्य। प्रत्याहतम् अस्त्रं यस्यासौ प्रत्याहतास्त्रः। गिरौ शेते इति गिरिशः तस्य प्रभावः गिरिश-प्रभावः तस्मात् गिरिशप्रभावात्।

भावार्थः—राजा दिलीपः सिंहस्य वचो निशम्य ब्रह्मादिरप्यनुलङ्घ्य-शासनस्य भगवतो महेश्वरस्य प्रभावादेव मे बाहुस्तम्भो जातः न पुनरेतस्य पशोः केशरिण इति सिंहवचसा विज्ञाय स्वापमानभावं तत्याज।

भाषार्थ—इस प्रकार सिंह के धृष्टतायुक्त वचन को सुनकर शंकर के प्रभाव से रुके हुए अस्त्रवाले राजा दिलीप ने अपने से अपमान के भाव शिथिल कर दिया ॥४१॥

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥४२॥

अन्वयः—तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नः वज्रं मुमुक्षन् त्र्यम्बकवीक्षणेन जडीकृतः वज्रपाणिः इव एनं प्रत्यब्रवीत् च ।

सञ्जीविनी—प्रतीति । स एव पूर्वः प्रथमो भङ्गः प्रतिबन्धो यस्य तस्मिंस्तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नो विफलप्रयासः । अत एव वज्रं कुलिशं मुमुक्षन्मोक्तुमिच्छन् । त्र्यम्बकं लोचनम् । 'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणि' इति हलायुधः । त्रीण्यम्बकानि यस्य स त्र्यम्बको हरः तस्य वीक्षणेन जडीकृतो निःपन्दीकृतः । वज्रं पाणौ यस्य स वज्रपाणिरिन्द्रः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यो भवत इति वक्तव्यम्' इति पाणेः सप्तम्यन्तस्योत्तरनिपातः । स इव स्थितो नृप एनं सिंहं प्रत्यब्रवीच्च "बाहुं सवज्रं शक्रस्य क्रुद्धस्यास्तम्भयत्प्रभुः" इति महाभारते ।

व्याख्या—तत्पूर्वभङ्गे = इदं प्रथमं प्रतिरुद्धे, इषुप्रयोगे = बाणमोक्षणे, वितथप्रयत्नः = विफलप्रयासः, वज्र = कुलिशम्, मुमुक्षन् = मोक्तुमिच्छन्, त्र्यम्बकवीक्षणेन = शिवनिरीक्षणेन जडीकृतः = कुण्ठितः, वज्रपाणिः = वज्रहस्त इन्द्र इव = यथा, एनं = सिंहम्, प्रत्यब्रवीत् = प्रत्युवाच च ।

समासः—इषोः प्रयोगे इषुप्रयोगः तस्मिन् इषुप्रयोगे । स एव पूर्वः भङ्गः यस्यासौ तत्पूर्वभङ्गः तस्मिन् तत्पूर्वभङ्गे । वितथः प्रयत्नो यस्यासौ वितथप्रयत्नः। न जडः अजडः अजडः जडः सम्पद्यमानोऽकारीति जडीकृतः । त्रीणि अम्बकानि यस्यासौ त्र्यम्बकः त्र्यम्बकस्य वीक्षणं त्र्यम्बकवीक्षणं तेन त्र्यम्बकवीक्षणेन। मोक्तुमिच्छन् मुमुक्षन् । वज्रं पाणौ यस्यासौ वज्रपाणिः ।

भावार्थः—बाणप्रयोगे राज्ञो दिलीपस्य सर्वप्रथमोऽयं पराभवोऽजनि । इन्द्रस्यापि पूर्वमीदृश एव पराजयो जात आसीत् । एवं च व्यर्थप्रयासो दिलीपः सिंहस्य समयोचितं प्रत्युत्तरं ददौ ।

त्रिपुरदाहावसरे पार्वतीक्रोडस्थिते बालस्वरूपिणि शिवे वज्रं मोक्तुमिच्छन्निन्द्रस्तद्विलोकनात् कुण्ठितबाहुर्बभूवेति महाभारतीया कथाऽत्रानुसन्धेया। 'बाहुं सवज्रं शक्रस्य क्रुद्धस्यास्तम्भयत् प्रभुः ।'

भाषार्थ—पहले रुकावट पड़नेपर बाण चलाने में असफल प्रयत्न वाले राजा दिलीप ने वज्र प्रहार करने की इच्छा करने वाले शिवजी के देखने से निश्चेष्ट हुए इन्द्र के समान सिंह से कहा ॥४२॥

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र ! कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये ॥४३॥

अन्वयः—हे मृगेन्द्र !, संरुद्धचेष्टस्य (मम) तत् वचः कामं हास्यम् । यत्, अहं, विवक्षुः हि भवान् प्राणभृताम् अन्तर्गतं सर्वं भावं वेद । अतः अभिधास्ये ।

सञ्जीविनी—संरुद्धचेष्टस्येति । हे मृगेन्द्र ! संरुद्धचेष्टस्य प्रतिबद्धव्यापारस्य मम तद्वचो वाक्यं कामं हास्यं परिहसनीयम् । यद्वचः 'सत्त्वं मदीयेन' (२।४५) इत्यादिकमहं विवक्षुर्वक्तुमिच्छुरस्मि । तर्हि तूष्णीं स्थीयतामित्याशङ्क्येश्वरकिङ्करत्वात् सर्वज्ञं त्वां प्रति न हास्यमित्याह—अन्तरिति । हि यतो भवान्प्राणभृतामन्तर्गतं हृद्गतं वाग्वृत्त्या बहिरप्रकाशितमेव सर्वं भावं वेद वेत्ति । 'विदो लटो वा' इति णलादेशः । अतोऽहमभिधास्ये वक्ष्यामि । वच इति प्रकृतं कर्म सम्बद्ध्यते । अन्ये त्वीदृग्वचनमाकर्ण्यासम्भावितार्थमेतदित्युपहसन्ति । अतस्तु मौनमेव भूषणम् । त्वं तु वाङ्मनसयोरेकविध एवायमिति जानासि । अतोऽभिधास्ये यद्वचोऽहं विवक्षुरित्यर्थः ।

व्याख्या—हे मृगेन्द्र = हे सिंह ! संरुद्धचेष्टस्य = प्रतिबद्धभुजव्यापारस्य, मम तद्वचः = तद्वचनम्, कामं = नितरां हास्यम् = उपहसनीयं स्यात्, यदहं = तद्वाक्यम्, अहं = दिलीपः विवक्षुः = वक्तुमिच्छामि । हि = यतः भवान् = त्वं सिंहः प्राणभृताम् = प्राणिनाम्, अन्तर्गतं = हृदयस्थमपि सर्वं = निखिलं, भावं = अभिप्रायम्, वेद = जानाति, अतः = अस्माद्धेतोः, अभिधास्ये = वक्ष्यामि ।

समासः—मृगाणामिन्द्रः मृगेन्द्रः तत्सम्बुद्धौ हे मृगेन्द्र । संरुद्धा चेष्टा यस्य स संरुद्धचेष्टः तस्य संरुद्धचेष्टस्य । हासितुं योग्यं हास्यम् । वक्तुमिच्छुः विवक्षुः । अन्तर्मध्ये गतमित्यन्तर्गतम् । प्राणान् बिभ्रतीति प्राणभृतः तेषां प्राणभृताम् ।

भावार्थः—किमपि प्रतिकर्तुं सर्वथाऽसमर्थस्य मे वचनं कामं हास्यायैव स्यात्, अत्रापि सर्वज्ञस्य भवतः किमज्ञातमस्ति । अतोऽहं हृद्गतं किञ्चिद्वच्मि यतो हि त्वं प्राणिनां हृदयगतं वाण्याऽप्रकाशितमपि जानासि एव । तस्माद् वक्तुमिष्टं स्वयं कथयिष्यामि ।

भाषार्थ—हे मृगेन्द्रराज ! असफल प्रयास यह बात अत्यन्त हास्यास्पद है, जिसे मैं कहने जा रहा हूँ । आप प्राणियों के मनोगत सभी भावों को जानते हैं इसलिए मैं कहूँगा ॥४३॥

मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥४४॥

अन्वयः—स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः, सः मे मान्यः । पुरस्तात् नश्यत् इदम् आहिताग्नेः गुरोः धनम् अपि अनुपेक्षणीयम् ।

सञ्जीविनी—मान्य इति । प्रत्यवहारः प्रलयः । स्थावराणां तरुशैलादीनां जङ्गमानां मनुष्यादीनां सर्गस्थितिप्रत्यवहारेषु हेतुः स ईश्वरो मे मम मान्यः पूज्यः । अलङ्घ्यशासन इत्यर्थः । शासनं च 'सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति' (२।३८) इत्युक्तरूपम् । तर्हि विसृज्य गम्यताम् । नेत्याह–गुरोरपीति । पुरस्तादग्रे नश्यदिदमाहिताग्नेर्गुरोर्धनमपि गोरूपमनुपेक्षणीयम् । आहिताग्नेरिति विशेषणेनानुपेक्षाकारणं हविःसाधनत्वं सूचयति ।

व्याख्या—स्थावरजङ्गमानां = चराचराणाम्, सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः = सृष्टिपालनविनाशकारणम्, सः = भगवान् सदाशिवः मे = मम, मान्यः = पूज्यः, एव । अत्रापि पुरस्तात् = अग्रे, नश्यत् = विनश्यत्, आहिताग्नेः = अग्निहोत्रिणः गुरोरपि = वसिष्ठस्यापि, धनं = गोरूपमिदं वित्तम्, अनुपेक्षणीयं = मया नापेक्षितव्यम् ।

समासः—तिष्ठन्तीति स्थावराः गच्छन्तीति जङ्गमाः स्थावराश्च जङ्गमाश्चेति स्थावरजङ्गमाः तेषां स्थावरजङ्गमानाम् । सर्गश्च स्थितिश्च प्रत्याहारश्च सर्गस्थितिप्रत्याहाराः तेषां हेतुः सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः । आहितोऽग्निर्येनासौ आहिताग्निः तस्य आहिताग्नेः । न उपेक्षणीयम् अनुपेक्षणीयम् ।

भावार्थः—चराचरात्मकस्य जगतः कारणं भगवान् शम्भुः वाढं मे मान्यः, तदनुचरत्वात् भवदुक्तमपि समादरणीयमेव, एवमग्निहोत्रिणो गुरोरपि गोरूपं धनं पुरस्तात् नश्यत् कथं मयोपक्षणीयम् । अतो गां विहाय नाहं गन्तुं शक्यः ।

भाषार्थ—वृक्ष, पर्वत आदि स्थावर और मनुष्यादि जङ्गम के उत्पत्ति, पालन और नाश करने वाले वे शिवजी मेरे पूजनीय हैं (किन्तु) अग्निहोत्री गुरु का सम्मुख नष्ट होता हुआ यह गौरूपी धन भी तो उपेक्षा न करने के लायक है ।४४।

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्त्तयितुं प्रसीद ।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥४५॥

अन्वयः—सः त्वं मदीयेन देहेन शरीरवृत्तिं निर्वर्तयितुं प्रसीद । दिनावसानोत्सुकबालवत्सा महर्षेः इयं धेनुः विसृज्यताम् ।

सञ्जीविनी—स इति। सोऽङ्कागतसत्त्ववृत्तिस्त्वं मदीयेन देहेन शरीरस्य वृत्ति जीवनं निर्वर्त्तयितुं सम्पादयितुं प्रसीद। दिनावसाने उत्सुको माता समागमिष्यतीत्युत्कण्ठितो बालवत्सो यस्याः सा महर्षेरियं धेनुर्विसृज्यताम्।

व्याख्या—सः = अङ्कागतसत्त्ववृत्तिः, त्वं = भवान् मदीयेन = मामकीनेन, देहेन = शरीरेण, शरीरवृत्ति = प्राणधारणम्, उदरपूरणं वा निवर्तयितुं = सम्पादयितुं प्रसीद = कृपां कुरु, दिनावसानोत्सुकबालवत्सा = सायमुत्कण्ठितबालशिशुः, महर्षेः = वसिष्ठस्य, इयं धेनुः = नन्दिनी, विसृज्यतां = मुच्यताम्।

समासः—मम इदं मदीयं तेन मदीयेन। शरीरस्य वृत्तिः शरीरवृत्तिः तां शरीरवृत्तिम्। दिनस्यावसानं दिनावसानं बालश्चासौ वत्सः बालवत्सः दिनावसाने उत्सुकः बालवत्सो यस्या सा दिनावसानोत्सुकबालवत्सा।

भावार्थः—हे मृगराज! भगवतः शिवस्यानुशासनस्य गुरोः धनस्य चावश्यं पालनीयतया भवन्तं प्रार्थये यत् मम शरीरेण पारणां कुरु, सायमस्या बुभुक्षितः समुत्सुकश्च बालवत्स एनां प्रतीक्षते। मातृदुग्धमेव तस्यास्ति प्रधानमाहारः। अतः कृपया एनां मुञ्च। एवं कर्तुं प्रसन्नो भवेति भावः।

भाषार्थ—वह तू मेरे शरीर से अपने शरीर के जीवन को सम्पादन करने के लिए प्रसन्न हो। सन्ध्या के समय उत्कण्ठित छोटे बछड़े वाली महर्षि की इस नन्दिनी गौ को छोड़ दो ॥४५॥

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्त्ती किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे ॥४६॥

अन्वयः—अथ गिरिगह्वराणाम् अन्धकारं दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् (सन्) भूतेश्वरपार्श्ववर्ती सः किञ्चित् विहस्य, अर्थपतिं भूयः बभाषे।

सञ्जीविनी—अथेति। अथ भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्त्यनुचरः स सिंहो गिरेर्गह्वराणां गुहानाम् 'देवखातबिले गुहा। गह्वरम्' इत्यमरः। अन्धकारं ध्वान्तं दंष्ट्रामयूखैः शकलानि खण्डानि कुर्वन्। निरस्यन्नित्यर्थः। किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं नृपं भूयो बभाषे। हास्यकारणम् 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्' इति वक्ष्यमाणं द्रष्टव्यम्।

व्याख्या—अथ = दिलीपप्रार्थनानन्तरम्, गिरिगह्वराणां = पर्वतकन्दराणाम्, अन्धकारं = ध्वान्तम्, दंष्ट्रामयूखैः = स्वदन्तकिरणैः, शकलानि = खण्डानि कुर्वन् = विदधत्, भूतेश्वरपार्श्ववर्ती = शिवानुचरः, सः = कुम्भोदरनाम सिंहः, किञ्चित्

विहस्य = ईषत्स्मितं कृत्वा भूपः = पुनरपि अर्थपतिं = तं राजानं दिलीपं बभासे = जगाद ।

समासः—गिरेः गह्वराणि गिरिगह्वराणि तेषां गिरिगह्वराणाम् । दंष्ट्राणां मयूखा दंष्ट्रामयूखाः तैः दंष्ट्रामयूखैः । भूतानामीश्वरः भूतेश्वरः भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्ती भूतेश्वरपार्श्ववर्ती । अर्थानां पतिः अर्थपतिः तम् अर्थपतिम् ।

भावार्थः—राज्ञो दिलीपस्य स्वशरीरार्पणप्रस्तावं श्रुत्वा सिंहः साभिप्रायं विहस्य गवार्थे स्वतनुं दातुं व्यवस्यन्तं तं राजानं पुनः वक्तुमुपक्रान्तवान् । भाषणसमये सिंहस्य शुभ्रैः दन्तकिरणैः कन्दरास्थं ध्वान्तं निरस्तम् ।

भाषार्थ—इसके बाद दाँतों की कान्ति से पर्वत की गुफाओं के अन्धकार को शिवजी के समीप रहने वाले सिंह ने कुछ हँसकर राजा से फिर बोला ॥४६॥

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥४७॥

अन्वयः—एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः इदं कान्तं वपुः च इति एवं बहु अल्पस्य हेतोः हातुम् इच्छन् त्वं विचारमूढः मे प्रतिभासि ।

सञ्जीविनी—एकातपत्रमिति । एकातपत्रमेकच्छत्रं जगतः प्रभुत्वं स्वामित्वम् । नवं वयो यौवनम् । इदं कान्तं रम्यं वपुश्च । इत्येवं बहु अल्पस्य हेतोरल्पेन कारणेन, अल्पफलायेत्यर्थः । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । हातुं त्यक्तुमिच्छंस्त्वं विचारे कार्याऽकार्यविमर्शे मूढो मूर्खो मे मम प्रतिभासि ।

व्याख्या—एकातपत्रं = एकच्छत्रम्, अप्रतिद्वन्द्वं वा जगतः = भूमण्डलस्य, प्रभुत्वं = ऐश्वर्यम्, नवं = नवीनम्, वयः = अवस्थाम्, इदं = पुरतो विभाव्यमानम्, कान्तं = मनोहरम्, वपुः = शरीरं च (एतत्सर्वं) बहु = विपुलम्, अल्पस्य हेतोः = अत्यल्पेन कारणेन, हातुं = त्यक्तुम्, इच्छन् = अभिलष्यन्, त्वं = भवान्, विचारमूढः = विमर्शविकलः, मे = मम, प्रतिभासि = प्रतीयसे ।

समासः—एकमातपत्रं यस्मिन् तत् एकातपत्रम् यद्वा एकं च तत् आतपत्रमिति एकातपत्रम् । प्रभोः भावः प्रभुत्वं तत् प्रभुत्वम् । विचारे मूढः विचारमूढः ।

भावार्थः—धेनुसंरक्षणात्मकाय यत्किञ्चित्फलायातिदुर्लभानि चक्रवर्तित्वं राज्यनवयौवन-सुन्दरशरीरसुखानि जिहासन् त्वं मया विचारशून्यो दृश्यसे ।

भाषार्थ—संसार का एक-छत्र आधिपत्य, नया यौवन और इस सुन्दर शरीर

को थोड़े के लिए अधिक छोड़ने की इच्छा करने वाले आप मुझे कर्तव्याकर्तव्य विचार में मूर्ख मालूम पड़ते हैं ॥४७॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते ।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ ! पितेव पासि ॥४८॥

अन्वयः—तव भूतानुकम्पा चेत् त्वदन्ते इयम् एका गौः स्वस्तिमती भवेत् । हे प्रजानाथ ! जीवन् पुनः पिता इव प्रजाः उपप्लवेभ्यः शश्वत् पासि ।

सञ्जीविनी— भूतानुकम्पेति । तव भूतेष्वनुकम्पा कृपा चेत् । 'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यात्' इत्यमरः । कृपैव वर्त्तते चेदित्यर्थः । तर्हि त्वदन्ते तव नाशे सतीयमेका गौः । स्वस्ति क्षेममस्या अस्तीति स्वस्तिमती भवेत् । जीवेदित्यर्थः । 'स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादौ' इत्यमरः । हे प्रजानाथ ! जीवन्पुनः पितेव प्रजा उपप्लवेभ्यो विघ्नेभ्यः शश्वत्सदा । 'पुनः सदार्थयोः शश्वत्' इत्यमरः । पासि रक्षसि । स्वप्राणव्ययेनैकधेनुरक्षणाद्वरं जीवितेनैव शश्वदखिलजगत्त्राणमित्यर्थः ।

व्याख्या—तव = भवतः, भूतानुकम्पा = जीवदया, चेत् = यदि, त्वदन्ते = त्वद्विनाशे, सति इयम् = एका पुरतो दृश्यमाना एकैव, गौः = नन्दिनी, स्वस्तिमती = कुशलिनी, भवेत् = सम्पद्येत, पुनः = किन्तु हे प्रजानाथ = प्रजेश्वर जीवन् सन्, शश्वत् = सदा, निरन्तरम्, उपप्लवेभ्यः = उपद्रवेभ्यः विघ्नेभ्यो वा पिता इव = जनक इव, प्रजाः = सकलं लोकम्, सन्ततिं च पासि = रक्षसि ।

समासः—भूतेषु अनुकम्पा भूतानुकम्पा । स्वस्ति अस्यास्ति इति स्वस्तिमती । तव अन्तः त्वदन्तः तस्मिन् त्वदन्ते । जीवतीति जीवन् । प्रजानां नाथः प्रजानाथः तत्सम्बुद्धौ हे प्रजानाथ ।

भावार्थः—हे राजन् ! गवार्थं कृपामात्रेण त्वं स्वं शरीरमर्पयसि, एतन्न समुचितम् । यतस्तव विनाशेऽपीयमेकैव नन्दिनी जीवेत्, त्वं पुनः जीवन् प्रजाः पितृवत् सङ्कटेभ्यो रक्षिष्यसि । इति एकगोरक्षणापेक्षयाऽनेकप्रजापालनं श्रेयस्करम् । अतः तव आत्मशरीरार्पणं कथमपि न युज्यते इति भावः ।

भाषार्थ—यदि तुम्हारी प्राणियों पर दया है तो विचार करो कि तुम्हारे मरने पर यह यह एक ही नन्दिनी गौ कुशलपूर्वक रहेगी । हे राजन् ! यदि तुम जीते रहोगे तो पिता समान प्रजा की विघ्नों से सदा रक्षा करोगे ॥४८॥

अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि ।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः ॥४९॥

अन्वय—अथ 'वा' एकधेनोः अपराधचण्डात् कृशानुप्रतिमाद् गुरोः विभेषि (किम्) ? अस्य मन्युः घटोध्नीः गाः स्पर्शयता भवता विनेतुं शक्यः ॥४९॥

सञ्जीविनी—अथेति । अथेति पक्षान्तरे । अथवा । एकैव धेनुर्यस्य तस्मात् । अयं कोपकारणोपन्यास इति ज्ञेयम् । अत एवापराधे गवोपेक्षालक्षणे सति चण्डादतिकोपनात् । 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः । अत एव कृशानुः प्रतिमोपमा यस्य तस्मादग्निकल्पान् गुरोर्विभेषि । इति काकुः । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानात्पञ्चमी । अल्पवित्तस्य धनहानिरतिदुःसहेति भावः । अस्य गुरोर्मन्युः क्रोधः 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः । घटा इवोधांसि यासां ता घटोध्नीः । 'उधसोऽनङ्' इत्यनङादेशः । 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' इति ङीष् । कोटिशो गाः स्पर्शयता प्रतिपादयता । 'विश्राणनं रितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्' इत्यमरः । भवता विनेतुमपनेतुं शक्यः ।

व्याख्या—अथ = अथवा, एकधेनोः = नन्दिनीमात्रविभवात्, अपराधचण्डात् = गोविनाशात्यन्तकोपनात्, अत एव कृशानुप्रतिमात् = अग्निकल्पात्, गुरोः = वसिष्ठात्, बिभेषि = बिभ्यसि किम् (इत्थं प्रश्नमुद्भाव्य स्वयमेवोत्तरयति) अस्य = वसिष्ठस्य, मन्युः = क्रोधः तु घटोध्नीः = कलशस्तनीः अतिदुग्धदात्रीर्वा, कोटिशः = अनेकशः, गाः = धेनूः, स्पर्शयता = तस्मै ददता, भवता = त्वया दिलीपेन, विनेतुं शक्यः = दुरीकर्तुं साध्यः ।

समासः—एका धेनुर्यस्य स एकधेनुः तस्मात् एकधेनोः । अपराधे चण्डः अपराधचण्डः तस्मात् अपराधचण्डात् । कृशानुः प्रतिभा यस्यासौ कृशानुप्रतिभाः तस्मात् कृशानुप्रतिभात् । घटा उधांसि यासां ताः घटोध्न्यः ताः घटोध्नीः । स्पर्शयतीति स्पर्शयन् तेन स्पर्शयता ।

भावार्थः—राजन् ! नन्दिनीमात्रधनस्य तद्विनाशात् क्रुद्धस्य वसिष्ठस्य क्रोधस्तु तस्मै अनल्पक्षीरा अनेका गा दत्त्वा तत्क्रोधापनयनं कर्तुं शक्नोषि । तद् गच्छ नैकस्या गोः कृतेऽनेकोपकारकं स्वं वपुः प्रदातुं शक्यम् । तथाहि—'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति ।'

भाषार्थ—एक नन्दिनी गौ रखनेवाले, अपराध के कारण कुपित अग्नि के समान तेजस्वी गुरु से डरते हो तो करोड़ों कलशस्तनी गायों को देकर आप उनके क्रोध को शान्त कर सकते हैं ॥४९॥

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥५०॥

अन्वयः—तत् कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम् ऊर्जस्वलम् आत्मदेहं रक्ष। हि ऋद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नम् ऐन्द्रं पदम् आहुः।

सञ्जीविनी—तद्रक्षेति। तत्तस्मात्कारणात्कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम्। कर्मणि षष्ठी। ऊर्जो बलमस्यास्तीत्यूर्जस्वलम्। 'ज्योत्स्नातमिस्रा' इत्यादिना वलच्प्रत्ययान्तो निपातः। आत्मदेहं रक्ष। ननु गामुपेक्ष्यात्मदेहरक्षणे स्वर्गहानिः स्यात्। नेत्याह—महीतलेति। ऋद्धं समृद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रेण भूतलसम्बन्धमात्रेण भिन्नमैन्द्रमिन्द्रसम्बन्धिपदं स्थानमाहुः स्वर्गान्न भिद्यत इत्यर्थः।

व्याख्या—तत् = तस्मात् कारणात्, कल्याणपरम्पराणां = सुखसन्ततीनां, मङ्गलसमूहानाम्, भोक्तारं = अनुभवितारम्, ऊर्जस्वलं = बलवन्तं सर्वसाधनं वा, आत्मदेहं = स्वं शरीरम्, रक्ष = परिपालय, मात्याक्षीः, हि = यतः, ऋद्धं = समृद्धम्, राज्यं = भूमण्डलाधिपत्यम्, महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नं = केवलं भूतलस्पर्शमात्रेण भिन्नम्, ऐन्द्रं = माहेन्द्रम्, पदं = स्वर्गस्थानम्, आहुः = कथयन्ति, परावरज्ञा मनीषिणः इति शेषः।

समासः—कल्याणानां परम्पराः कल्याणपरम्पराः तासां कल्याणपरम्पराणाम्। ऊर्जोऽस्यास्तीति ऊर्जस्वलं तमूर्जस्वलम्। आत्मनो देह आत्मदेहः तम् आत्मदेहम्। मह्याः तलं महीतलं महीतलस्य स्पर्शनं महीतलस्पर्शनं महीतलस्पर्शनमेव महीतलस्पर्शनमात्रम्, तेन भिन्नं महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नम्। इन्द्रस्येदम् ऐन्द्रं तत् ऐन्द्रम्।

भावार्थः—राजन्! तस्मात् नानाश्रेयःपरम्परासाधनं सुखैकनिकेतनं स्वं शरीरं क्षुद्रवस्तुगोविनिमये त्वं मा त्याक्षीः। ऐन्द्रस्य पदस्य चक्रवर्तिपदानतिरेकाद् विपश्चितः सम्पन्नं राज्यं भौमं स्वर्गं कथयन्ति।

भाषार्थ—इसलिए उत्तरोत्तर सुखों के उपभोग करने वाले, बलिष्ठ अपने शरीर की रक्षा कीजिए, क्योंकि समृद्धिशाली राज्य को भूतल से सम्बन्ध होने के कारण ही दूसरा स्वर्ग कहते हैं ॥५०॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥५१॥

अन्वयः—मृगेन्द्रे एतावत् उक्त्वा विरते (सति) गुहागतेन अस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयः अपि प्रीत्या तम् एव अर्थं क्षितिपालम् उच्चैः अभाषत इव।

सञ्जीविनी—एतावदिति। मृगेन्द्रे एतावदुक्त्वा विरते सति गुहागतेनास्य

सिंहस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयः शैलोऽपि प्रीत्या तमेवार्थं क्षितिपालमुच्चैरभापतेव इत्युत्प्रेक्षा। भाषिरयं ब्रुविसमानार्थकत्वाद् द्विकर्मकः। ब्रुविस्तु द्विकर्मकेषु पठितः। तदुक्तम्—"दुहियाचिरुधिप्रच्छिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तकपूर्वविधौ। ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना" इति।

व्याख्या – मृगेन्द्रे = मृगराजे, सिंहे, एतावत् = इयन्मात्रम्, उक्त्वा = कथयित्वा विरते = निवृत्ते सति गुहागतेन = कन्दरोत्थितेन अस्य = मृगेन्द्रस्य, प्रतिस्वनेन = प्रतिध्वनिना शिलोच्चयः = पर्वतः, अपि = पुनः, प्रीत्या = प्रेम्णा, तमेवार्थं = सिंहोक्तमेव प्रयोजनम्, क्षितिपालं = पृथ्वीपालम्, राजानं = दिलीपम्, अभाषतेव = उवाचेव।

समासः—गुहां गतः गुहागतः यद्वा गुहाया आगतः गुहागतः तेन गुहागतेन। क्षितिं पालयतीति क्षितिपालः तं क्षितिपालम्। मृगाणामिन्द्रः मृगेन्द्रः तस्मिन् मृगेन्द्रे।

भावार्थः—चतुर्भिः श्लोकैः स्वं वक्तव्यमुक्त्वा मृगेन्द्रः तूष्णीमभवत्। ततो हिमालयपर्वतोऽपि गुहागतसिंहवाक्प्रतिध्वनिना सिंहोक्तमेवार्थं प्रेम्णा राजानं प्रति अनुमोदितवानिति भावः।

भाषार्थ—इतना कह कर सिंह के चुप हो जानेपर, कन्दरा में उठी हुई इसकी प्रतिध्वनि से पर्वत ने भी प्यार से मानों उसी बात को जोर से समर्थन किया ॥५१॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥५२॥

अन्वयः—देवानुचरस्य वाचं निशम्य तदध्यासितकातराक्ष्या धेन्वा निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः मनुष्यदेवः पुनः अपि उवाच।

सञ्जीविनी—निशम्येति। देवानुचरस्येश्वरकिङ्करस्य सिंहस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवो राजा पुनरप्युवाच। किम्भूतः सन्। तेन सिंहेन यदध्यासितं व्याक्रमणम्। नपुंसके भावे क्तः। तेन कातरे अक्षिणी यस्यास्तया। 'बहुव्रीहौ सक्थ्य॰' इति षच्। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष्। किं वा वक्ष्यतीति भीत्यैवं स्थितयेत्यर्थः। धेन्वा निरीक्ष्यमाणः। अत एव सुतरां दयालुः सन्। सुतरामित्यत्र 'द्विवचनविभज्योपपदे–' इत्यादिना सुशब्दात्तरप्। 'किमेत्तिङव्यय' इत्यनेनाम्प्रत्ययः। 'तद्धितश्चासर्व॰' इत्यव्ययसंज्ञा।

व्याख्या—देवानुचरस्य = शिवकिङ्करस्य, सिंहस्य, वाचं = पूर्वोक्तां वाणीम्, निशम्य = श्रुत्वा, तदध्यासितकातराक्ष्या = सिंहाक्रमणभयतरललोचनया, धेन्वा = गवा नन्दिन्या निरीक्ष्यमाणः = नितरां विलोक्यमानः सुतराम् = अत्यन्तम्, दयालुः = कारुणिकः, मनुष्यदेवः = नराधिपः, पुनः = भूयोऽपि उवाच = सिंहं प्रति आभावसे।

समासः—देवस्यानुचरः देवानुचरः तस्य देवानुचरस्य। मनुष्याणां देवः मनुष्यदेवः। तेनाध्यासितं तदध्यासितं तदध्यासितेन कातरे अक्षिणी यस्या सा तदध्यासितकातराक्षी तया तदध्यासिकातराक्ष्या।

भावार्थः—सिंहाधिष्ठानत्रस्त लोललोचनया तया गवा नन्दिन्या कातरं निरीक्ष्यमाणो राजा दिलीपः सिंहस्य पूर्वोक्तां वणीमाकर्ण्य तं पुनरपि प्रतिजगाद।

भाषार्थ—शिवजी के सेवक सिंह की बात सुनकर, उसके द्वारा आक्रान्त होने से भयभीत आँखों वाली नन्दिनी गौ से देखे जाते हुए अतएव दयावान् राजा दिलीप ने फिर से कहा ॥५२॥

किमुवाचेत्याह—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्त्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥५३॥

अन्वयः—उदग्रः क्षत्रस्य शब्द 'क्षतात् त्रायते' इति भुवनेषु रूढः किल। तद्विपरीतवृत्तः राज्येन किम्? उपक्रोशमलीमसैः प्राणैः वा किम्?।

सञ्जीविनी—क्षतादिति। 'क्षणु हिंसायाम्' इति धातोः सम्पदादित्वात्क्विप्। 'गमादीनाम्' इति वक्तव्यादनुनासिकलोपे तुगागमे च क्षदिति रूपं सिद्धम्। क्षतात् नाशात् त्रायत इति क्षत्त्रः। 'सुपि' इति योगविभागात्कः। तामेतां व्युत्पत्तिं कविरर्थतोऽनुक्रामति–क्षतादित्यादिना। उदग्र उन्नतः क्षत्त्रस्य क्षत्त्रवर्णस्य शब्दो वाचकः क्षत्त्रशब्द इत्यर्थः। क्षतात्त्रायत इति व्युत्पत्त्या भुवनेषु रूढः किल प्रसिद्धः खलु। नाश्वकर्णादिवत्केवलरूढः, किन्तु पङ्कजादिवद्योगरूढ इत्यर्थः। ततः किमित्यत आह—तस्य क्षत्त्रशब्दस्य विपरीतवृत्तेर्विरुद्धव्यापारस्य क्षतस्त्राणमकुर्वतः पुंसो राज्येन किम्। उपक्रोशमलीमसैर्निन्दामलिनैः। 'उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणे' इत्यमरः। 'ज्योत्स्नातमिस्रा—'इत्यादिना मलीमसशब्दो निपातितः। 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः। तैः प्राणैर्वा किम्। निन्दितस्य सर्वं व्यर्थमित्यर्थः। एतेन 'एकातपत्रम्' इत्यादिना श्लोकद्वयेनोक्तं प्रयुक्तमिति वेदितव्यम्।

व्याख्या—उदग्रः = उन्नतः,क्षत्रस्य = क्षत्रियस्य, शब्दः = वाचकः, क्षतात् = नाशात् त्रायते = रक्षति इति = हेतोः भुवनेषु = लोकेषु, रूढः = प्रसिद्धः, किल = खलु तद्विपरीतवृत्तेः = तादृशक्षत्रशब्दार्थविरुद्धव्यापारस्य, आर्तत्राणमनाचरतः पुंसः, राज्येन = राजभावेन, किम् ? = न किमपि फलम्, उपक्रोशमलीमसैः = निन्दामलिनैः, प्राणैः = असुभिः तस्य राज्येन वा किम् ? = न किमपीत्यर्थः ।

समासः—तस्य विपरीता तद्विपरीता तद्विपरीता वृत्तिर्यस्य स तद्विपरीतवृत्तिः तस्य तद्विपरीतवृत्तेः । उपक्रोशेन मलीमसा उपक्रोशमलीमसा तैः उपक्रोशमलीमसैः । राज्ञो भावः कर्म वा राज्यं तेन राज्येन ।

भावार्थः—यो हि विपन्नानां रक्षणं न कुरुते नासौ क्षत्रियः । सङ्कटात् नाशाद्वा आर्तानां परित्राणमकुर्वन् स कथं भवितुमर्हति राजा । तादृशस्य पुंसः निन्दितैः प्राणैः किमस्ति वा प्रयोजनम् ? निष्फलं तस्य जीवितम् । अत आर्तत्राणाच्च्युतस्य क्षत्रियस्य जीवनं विभववैभवं च धिक् ।

भाषार्थ—उन्नत क्षत्रियवर्ण का वाचक शब्द 'नाश से जो बचावे वह क्षत्रिय है' इस व्युत्पत्ति से संसार में प्रसिद्ध है। उससे विपरीत आचरण वाले क्षत्रिय का राज्य से क्या प्रयोजन है ? अथवा लोकनिन्दा से मलिन हुए प्राणों से क्या लाभ है ? ॥५३॥

'अथैकधेनोः' (२-४९) इत्यत्रोत्तरमाह—

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम् ।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम् ॥५४॥

अन्वयः—महर्षेः अनुनयः च अन्यपयस्विनीनां विश्राणनात् कथं नु शक्यः ? इमां सुरभेः अनूनाम् अवेहि । त्वया तु अस्यां रुद्रौजसा प्रहृतम् ।

सञ्जीविनी—कथमिति । अनुनयः क्रोधापनयः । चकारो वाकारार्थः । महर्षेरनुनयो वाऽन्यासां पयस्विनीनां दोग्ध्रीणां गवां विश्राणनाद्दानात् । 'त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने । विश्राणनं वितरणम्' इत्यमरः । कथं नु शक्यः । न शक्य इत्यर्थ । अत्र हेतुमाह—इमां गां सुरभेः कामधेनोः । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । अनूनामन्यूनामवेहि जानीहि । तर्हि कथमस्याः परिभवो भूयादित्याह—रुद्रौजसेति । अस्यां गवि त्वया कर्त्रा प्रहृतं तु प्रहारस्तु । नपुंसके भावे क्तः । रुद्रौजसेश्वरसामर्थ्येन । न तु स्वयमित्यर्थः । 'सप्तम्यधिकरणे च' इति सप्तमी ।

व्याख्या—महर्षेः = वसिष्ठस्य, अनुनयः = कोपप्रसादनं च = वा, अन्यप-

अन्यपयस्विनीनाम् । अनूनाम् ।

यस्विनीनां = अपरासां भूरिक्षीराणां कोटिघटोध्नीनाम्, विश्राणनात् = दानात्, कथं नु शक्यः = कथङ्कारं शक्यः, न शक्य इत्यर्थः, यतः इमां = नन्दिनीम्, सुरभेः = कामधेनोः, अनूनां = अहीनाम्, अवेहि = जानीहि, त्वया = सिंहेन, अस्यां = नन्दिन्याम्, प्रहृतं तु=प्रहारस्तु रुद्रौजसा=शिवमहिम्ना महादेव-प्रभावेण वा।

समासः—अन्यश्च ताः पयस्विन्यः अन्यपयस्विन्यः तासाम् अन्यपयस्विनीनाम् । न नूना अनूना तामनूनाम् । रुद्रस्यौजः।रुद्रौजः तेन रुद्रौजसा । महांश्चासौ ऋषिः महर्षिः तस्य महर्षेः ।

भावार्थः—मृगेन्द्र ! अन्यगवां प्रदानेन गुरोः क्रोधः कथमपसरेत् ? नेयं नन्दिनी दुग्धमात्रप्रदात्री गौः, अपि तु, एषा कामधेनुसमानानुभावा कामद्रोग्ध्री । अस्याः तुलनां किमन्याः पयस्विन्यः अर्हन्ति ?, यां गुरवे प्रदाय तं प्रसादिष्ये । त्वत्कृतोऽस्यां प्रहारस्तु भगवतो रुद्रस्य प्रभावादेव जातः । अतोऽस्या महानुभावत्वे न भवता शङ्कितव्यम् ।

भाषार्थ—और दूसरी दुधारू गायों के देने से महर्षि वसिष्ठ के क्रोध को किस प्रकार शान्त किया जा सकता है ? इस नन्दिनी को कामधेनु से कम न समझो ! तुमने तो इस पर शिवजी की सामर्थ्य से प्रहार किया है ।।५४।।

तर्हि किं चिकीर्षितमित्याह—

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रियेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ।।५५।।

अन्वयः—सा इयं मया स्वदेहार्पणनिष्क्रियेण भवतः मोचयितुं न्याय्या । एवं (सति) तव पारणा विहता न स्यात्, मुनेः क्रियार्थः अलुप्तः च भवेत् ।

सञ्जीविनी—सेयमिति । सेयं गौर्मया निष्क्रीयते प्रत्याह्रियतेऽनेन परिगृहीतमिति निष्क्रियः प्रतिशीर्षकम् । 'एरच्' इत्यच्प्रत्ययः । स्वदेहार्पणमेव निष्क्रियं तेन । भवतस्त्वत्तः । पञ्चम्यास्तसिल् । मोचयितुं न्यायादनपेता । युक्तेत्यर्थः । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इत्यनेन यत्प्रत्ययः । एवं सति तव पारणा भोजनं विहता न स्यात् । मुनेः क्रिया होमादिः स एवार्थः प्रयोजनम् । स चालुप्तो भवेत् । स्वप्राणव्ययेनापि स्वामिगुरुधनं संरक्ष्यमिति भावः ।

मया = राजा दिलीपेन

व्याख्या—सा इयं = कामधेनुसदृशी नन्दिनी गौः, स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण = निजकायत्यागतुल्यमूल्यप्रदानेन, भवतः = त्वत्तः, मोचयितुं = त्याजयितुम्, न्याय्या = योग्या, एवम् = अनया रीत्या, तव = भवतः, पारणा = व्रतान्तभोजनम्,

विहता = नशिता न स्यात् = न हि भवेत्, किञ्च मुनेः = ऋषेः वसिष्ठस्य क्रियार्थश्च = यज्ञादिरूपोऽर्थश्च, अलुप्तः = अनवरुद्धः, भवेत् = सम्पद्येत ।

समासः—स्वस्य देहः स्वदेहः स्वदेहस्यार्पणं स्वदेहार्पणं निष्क्रियतेऽनेन असौ निष्क्रयः स्वदेहार्पणमेव निष्क्रियः स्वदेहार्पणनिष्क्रियः तेन स्वदेहार्पणनिष्क्रियेण । न्यायादनपेता न्याय्या । न लुप्तः अलुप्तः । क्रिया एव अर्थः क्रियार्थः । अथवा क्रियाया अर्थः क्रियार्थः ।

भावार्थः—मृगेन्द्र ! कामधेनुकल्पा एषा नन्दिनी आत्म-कलेवरं तत्स्थाने समर्प्य त्वत्तो मोचनीया । इदमेव समुचितं स्यात् । तदेवं करणेन तव पारणा, मम शिवानुशासनपालनम्, होमादिसाधनं गुरुगोरक्षणञ्चैकपदे एव सम्पद्येत । अत एनां परित्यज, मां भक्षय ।

भाषार्थ—इस नन्दिनी गौ को अपना शरीर देकर भी आप से छुड़ाना उचित है। ऐसा करने पर न तो आपका व्रतान्त भोजन नष्ट होगा, न महर्षि वसिष्ठ की यज्ञादि क्रिया का साधन लुप्त होगा ।।५५।।

अत्र भवानेव प्रमाणमित्याह—

भवानपीदं परवानवैति महान् हि यत्नस्तव देवदारौ ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ।।५६।।

अन्वयः—परवान् भवान् अपि इदम् अवैति । हि तव देवदारौ महान् यत्नः । रक्ष्यं विनाश्य स्वयम् अक्षतेन नियोक्तुः अग्रे स्थातुं शक्यं न हि ।

सञ्जीविनी—भवानिति । परवान्स्वामिपरतन्त्रो भवानपि । 'परतन्त्रः पराधीनः परान्नाथवानपि' इत्यमरः । इदं वक्ष्यमाणमवैति । भवताऽनुभूयत एवेत्यर्थः । 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः । किमित्यत आह—हि यस्माद्धेतोः 'हि हेतावववधारणे' इत्यमरः । तव देवदारौ विषये महान् यत्नः महता यत्नेन रक्ष्यत इत्यर्थः । इदं शब्दोक्तमर्थं दर्शयति—स्थातुमिति । रक्ष्यं वस्तु विनाश्य विनाशं गमयित्वा स्वयमक्षतेनाव्रणेन । नियुक्तेनेति शेषः । नियोक्तुः स्वामिनोऽग्रे स्थातुं शक्यं न हि ।

व्याख्या—परवान् = पराधीनः भवानपि = श्रीमानपि इदम् = कर्तव्यगुरुत्वम्, अवैति = जानाति, हि = यतः तव = भवतः, देवदारौ = देवदारुतरुरक्षणे, महान् = भूयान्, यत्नः = पर्यवेक्षणप्रयासो विभाव्यते, रक्ष्यं = रक्षणीयं पालनीयं वा वस्तु, विनाश्य = नाशयित्वा, स्वयम् = आत्मना, अक्षतेन = अव्रणेन, कुशलेन वा

नियोक्तुः = नियोजकस्य स्वामिनः, अग्रे = पुरतः, स्थातुं = सन्निधातुम्, शक्यं = साध्यम्, नहि = नैव।

समासः—परोऽस्त्यस्य परवान्। नियुनक्तीति नियोक्ता तस्य नियोक्तुः। रक्षितुं योग्यं रक्ष्यं तत् रक्ष्यम्। न क्षतः अक्षतः तेन अक्षतेन।

भावार्थः—ननु सिंह! अहमिव भवानपि पराधीनः, अहं गोरक्षणे नियुक्तश्चेत् त्वमपि देवदारुसंरक्षणे नियुक्तः इति देवदारुं यत्नेन रक्षसीति समुचितमेतत्। स्वामिनः समक्षं तदीयं वस्तु विनाश्य स्वयमक्षतशरीरः सेवकः लज्जासङ्कोचाभ्यामभिभूतः सन् स्थातुं नैव पारयेत्। अतोऽहमिमां धेनुं विनाश्य कथं तत्पुरतो व्रजामि?

भाषार्थ—पराधीन होते हुए आप भी यह जानते हैं, क्योंकि आपका देवदारु के विषय में बहुत बड़ा प्रयत्न है। रक्षा करने के योग्य वस्तु को नष्ट करके स्वयं बिना घायल हुए शरीर से मालिक के आगे खड़ा होना नौकर को उचित नहीं ॥५६॥

सर्वथा चैतदप्रतिहार्यमित्याह—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥५७॥

अन्वयः—किम् अपि अहं तव अहिंस्यः मतः चेत् (तर्हि) मे यशःशरीरे दयालुः भव। मद्विधानाम् एकान्तविध्वंसिषु भौतिकेषु पिण्डेषु अनास्था खलु।

सञ्जीविनी—किमिति। किमपि किं वाऽहं तवाहिंस्योऽवध्यो मतश्चेत्तर्हि मे यश एव शरीरं तस्मिन्दयालुः कारुणिको भव। 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः। ननु मुख्यमुपेक्ष्यामुख्यशरीरे कोऽभिनिवेशोऽत आह—एकान्तेति। मद्विधानां मादृशानां विवेकिनामेकान्तविध्वंसिष्ववश्यविनाशिषु भौतिकेषु पृथिव्यादिभूतविकारेषु पिण्डेषु शरीरेष्वनास्था खल्वनपेक्षैव। 'आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु कथ्यते' इति विश्वः।

व्याख्या—किमपि = किम्वा, अथवा, अहं = दिलीपः, तव = भवतः सिंहस्य, अहिंस्यः = अवध्यः, मतश्चेत् = सम्मतो यदि तर्हि मे = मम दिलीपस्य, यशःशरीरे = कीर्तिकलेवरे, दयालुः कृपालुः कारुणिको वा भव, एतदेव परिपालय, मद्विधानां=मादृशानां एकान्तविध्वंसिषु = अवश्यविनाशिषु, भौतिकेषु = पाञ्चभौतिकेषु, पिण्डेषु = शरीरेषु अनास्था = अनादरः खलु = किल।

समासः—हिंसितुं योग्यः हिंस्यः न हिंस्यः अहिंस्यः। यश एव शरीरं यशः-शरीरं तस्मिन् यशःशरीरे। विध्वंसितुं शीलं विध्वंसिनः एकान्तं विध्वसिनः एकान्तविध्वंसिनः तेषु एकान्तविध्वंसिषु। मम विधा इव विधा येषां ते मद्विधाः तेषां मद्विधानाम्। भूतानां विकारा भौतिकाः तेषु भौतिकेषु।

भावार्थः—मृगेन्द्र! जगत्पालकत्वादिना यदि मामवध्यं मनुषे, तर्हि मदीयं यश एक परिरक्ष्यं भवता नतु पाञ्चभौतिकं कलेवरं रक्ष्यम्। गवार्थे मृतस्य मे यशः चिरस्थायि भविष्यति। मादृशा जनाः अवश्यं विनाशिषु पाञ्चभौतिकस्थूल-शरीरेषु स्पृहां न कुर्वन्ति। त्वं तस्मान्मामवश्यं व्यापादय।

भाषार्थ—यदि मैं तुम्हारे विचार से अवध्य हूँ, तो मेरे यशोरूप शरीर पर दया करो। हमारे जैसे लोगों की अवश्य विनाश होने वाले पाँच महाभूतों से बने भौतिक शरीर में अपेक्षा नहीं होती ॥५७॥

सौहार्दादहमनुसरणीयोऽस्मीत्याह—

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ सङ्गतयोर्वनान्ते।
तद्भूतनाथानुग! नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥५८॥

अन्वयः—सम्बन्धम् आभाषणपूर्वम् आहुः, सः वनान्ते सङ्गतयोः नौ वृत्तः। तद् हे भूतनाथानुग! त्वं सम्बन्धिनः मे प्रणयं विहन्तुं न अर्हसि।

सञ्जीविनी—सम्बन्धमिति। सम्बन्धं सख्यम्। आभाषणमालापः पूर्वं कारणं यस्य तमाहुः। 'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः। स तादृक्सम्बन्धो वनान्ते सङ्ग-तयोर्नावावयोर्वृत्तो जातः। तत्तो हेतोर्हे भूतनाथानुग! शिवानुचर! एतेन तस्य महत्त्वं सूचयति। अत एव सम्बन्धिनो मित्रस्य मे प्रणयं याच्ञाम्। 'प्रणयास्त्वमी विश्रम्भयाच्ञाप्रेमाणः' इत्यमरः। विहन्तुं नार्हसि।

व्याख्या—सम्बन्धं = सख्यम्, अभाषणपूर्वम् = आलापमात्रहेतुकम्, आहुः = विद्वांसो वदन्ति सः = सम्बन्धः, वनान्ते = काननप्रान्ते इह वने, सङ्गतयोः = मिलितयोः, नौ = आवयोः, वृत्तः = सञ्जात एव। तत् = तस्मात् कारणात् हे भूतनाथानुग! = हे शिवानुचर! त्वं = भवान्, सम्बन्धिनः = सख्युः, मे = मम, प्रणयं = प्रार्थनाम्, याञ्चाम्, विहन्तुं = विफलीकर्तुं, नार्हसि = न योग्योऽसि।

समासः—आभाषणं पूर्वं यस्यासौ आभाषणपूर्वः तमाभाषणपूर्वम्, अनुगच्छ-तीति अनुगः भूतनाथस्यानुगः भूतनाथानुगः तत्सम्बुद्धौ हे भूतनाथानुग। वनस्य अन्तः वनान्तः तस्मिन् वनान्ते।

भावार्थः—सतां मैत्री आलापमात्रेणैव सम्पद्यते, इति विद्वांसो वदन्ति। आवयोः अत्रारण्ये मिलितयोः एतावानालापः सम्पन्नः। भवान् शिवानुचरत्वात् सज्जनमूर्धन्य इति मे मित्रस्य प्रयासं सफलय, विफलं मा कार्षीत्।

भाषार्थ—विद्वान् मित्रता को बातचीत के द्वारा उत्पन्न कहते हैं। वह बन के बीच में मिले हुए हम दोनों की हो चुकी है। इसलिए हे शिवसेवक! तुम मेरे जैसे मित्र की प्रार्थना को उल्लंघन करने के योग्य नहीं हो ॥५८॥

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य ॥५९॥

अन्वयः—'तथा' इति गाम् उक्तवते हरये सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः सः दिलीपः न्यस्तशस्त्रः स्वदेहम् आमिषस्य पिण्डम् इव उपानयत्।

सञ्जीविनी—तथेतीति। तथेति गामुक्तवते हरये सिंहाय। 'कपौ सिंहे सुवर्णे च वर्णे विष्णौ हरिं विदुः' इति शाश्वतः। सद्यस्तत्क्षणे प्रतिष्टम्भात्प्रतिबन्धाद्विमुक्तो बाहुर्यस्य सः, दिलीपः। न्यस्तशस्त्रस्त्यक्तायुधः सन्। स्वदेहम्। आमिषस्य मांसस्य। 'पललं क्रव्यमामिषम्' इत्यमरः। पिण्डं कवलमिव। उपानयत्समर्पितवान्। एतेन निर्ममत्वमुक्तम्।

व्याख्या—तथा = अस्त्वेवम्, इति = इत्थं गां वाचम् उक्तवते = कथितवते, हरये = सिंहाय, सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः = तत्क्षणविगतहस्तावरोधः, सः = राजा दिलीपः, न्यस्तशस्त्रः = त्यक्तायुधः, सन् स्वदेहं = निजशरीरम्, आमिषस्य = मांसस्य, पिण्डमिव = कवलमिव उपानयत् = उपाहरत्।

समासः—प्रतिष्टम्भात् विमुक्तः प्रतिष्टम्भविमुक्तः प्रतिष्टम्भविमुक्तो बाहुर्यस्य सः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः। न्यस्तं शस्त्रं येन स न्यस्तशस्त्रः। स्वस्य देहः स्वदेहः तं स्वदेहम्।

भावार्थः—'तथाऽस्तु' इत्युक्त्वा राज्ञः प्रार्थनां स्वीकृतवते सिंहाय तत्काले प्रतिरोधात् मुक्तभुजो राजा दिलीपः स्वं शरीरं मांसपिण्डमिव उपहृतवान्।

भाषार्थ—'अच्छा' इस वाणी को कहने वाले सिंह के लिए तत्काल मुक्त हाथ वाला अस्त्र छोड़कर उस दिलीप ने अपने शरीर को मांस के लोथ के समान अर्पण कर दिया ॥५९॥

तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम्।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥६०॥

अन्वयः—तस्मिन् क्षणे उग्रं सिंहनिपातं उत्पश्यतः अवाङ्मुखस्य प्रजानां पालयितुः उपरि विद्याधरहस्तमुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ।

सञ्जीविनी—तस्मिन्निति । तस्मिन्क्षणे उग्रं सिंहनिपातमुत्पश्यत उत्प्रेक्षमाणस्य तर्कयतोऽवाङ्मुखस्य 'स्यादवाङ्प्यधोमुखः' इत्यमरः । प्रजानां पालयितू राज्ञ उपर्युपरिष्टात् 'उपर्युपरिष्टात्' इति निपातः । विद्याधराणां देवयोनिविशेषाणां हस्तैर्मुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ।

व्याख्या—तस्मिन् क्षणे = स्वशरीरदानावसरे, उग्रं = भीषणम्, सिंहनिपातं = मृगेन्द्रनिपतनम्, उत्पश्यतः = उत्प्रेक्षमाणस्य तर्कयतः, अवाङ्मुखस्य = अधोमुखस्य, प्रजानां = लोकानाम्, पालयितुः = रक्षितुः राज्ञो दिलीपस्य, उपरि = उपरिष्टात्, विद्याधरहस्तमुक्ता = विद्याधरकरविकीर्णा पुष्पवृष्टिः = प्रसूनवर्षम्, पपात = न्यपतत् ।

समासः—उत्पश्यतीति उत्पश्यन् तस्य उत्पश्यतः । सिंहस्य निपातः सिंहनिपातः तं सिंहनिपातम् । अवाक्मुखं यस्य स अवाङ्मुखः तस्य अवाङ्मुखस्य । विद्याधराणां हस्तैः मुक्ता विद्याधरहस्तमुक्ता । पुष्पाणां वृष्टिः पुष्पवृष्टिः ।

भावार्थः—सिंहो मां द्राग् विदारयिष्यतीति उत्प्रेक्षमाणस्याधोमुखस्य राज्ञो दिलीपस्य मूर्ध्नि अहो ! गवार्थे सम्राडपि विशङ्कं स्वदेहं प्रददाति, इति चकितैः विद्याधरैः विकीर्णानि कुसुमानि न्यपतन् ।

भाषार्थ—उसी समय क्रूर सिंह के झपटने की राह देखने वाले, नीचे मुँह किए प्रजाओं का पालन करने वाले राजा दिलीप के ऊपर विद्याधरों के हाथ से छूटी हुई पुष्प-वर्षा हुई ॥६०॥

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥६१॥

अन्वयः—राजा अमृतायमानम् उत्थितं 'हे वत्स ! उत्तिष्ठ' इति वचः निशम्य उत्थितः सन् अग्रतः प्रस्रविणीं गां स्वां जननीम् इव ददर्श सिंहं न (ददर्श) ॥

सञ्जीविनी—उत्तिष्ठेति । राजा अमृतमिवाचरतीत्यमृतायमानं तत् 'उपमानादाचारे' इति क्यच् । ततः शानच् । उत्थितमुत्पन्नं 'हे वत्स ! उत्तिष्ठ' इति वचो निशम्य श्रुत्वा । उत्थितः सन् । अस्तेः शतृप्रत्ययः । अग्रतोऽग्रे प्रस्नवः क्षीरस्रावोऽस्ति यस्याः सा तां प्रस्रविणीं गां स्वां जननीमिव ददर्श सिंह न ददर्श ।

व्याख्या—राजा = दिलीपः, अमृतायमानं = सुधामधुरम्, उत्थितं = उद्-

भूतम्, वत्स ! = हे पुत्र !, उत्तिष्ठ = उत्थितो भव, इति = ईदृशम्, वचः = वाक्यम्, निशम्य = श्रुत्वा, उत्थितः = भूमेरुत्थितः, सन् = भवन्, अग्रतः = पुरतः, प्रस्रविणीं = पयः स्रवन्तीम्, गां = नन्दिनीं धेनुम्, स्वां = निजाम्, जननीम् = मातरम् इव = यथा, ददर्श = अपश्यत्, सिंहं = मृगेन्द्रम्, न = नैव ददर्श ।

समासः—अमृतमिवाचरतीति अमृतायते, अमृतायते इत्यमृतायमानं यद्वा अमृतवत् आचरतीत्यमृतायमानं तत् अमृतायमानम् । प्रस्रवोऽस्ति अस्या प्रस्रविणी तां प्रस्रविणीम् ।

भावार्थः—राजा दिलीपः हे वत्स ! उत्तिष्ठ इति धेनोर्मधुरां वाणीमाकर्ण्य उत्थाय च सम्मुखे स्थितां स्नेहेन क्षीरं स्रवन्तीं निजमातरमिव नन्दिनीं ददर्श, किन्तु सिंहं तु न ददर्श ।

भाषार्थ—'हे पुत्र ! उठो' ऐसा नन्दिनी के मुँह से निकले हुए अमृतमय वचन को सुनकर उठते ही राजा ने सामने स्नेह से टपकते हुए दूध वाली अपनी माता के समान नन्दिनी गौ को देखा, किन्तु शेर को नहीं देखा ॥६१॥

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो ! मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि ।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ॥६२॥

अन्वयः—विस्मितं तं धेनुः उवाच । हे साधो ! मया मायां उद्भाव्य परीक्षितः असि । ऋषिप्रभावात् मयि अन्तकः अपि प्रहर्तुं न प्रभुः किमुत अन्यहिंस्राः ।

सञ्जीविनी—तमिति । विस्मितमाश्चर्यं गतम् कर्त्तरि क्तः । तं दिलीपं धेनुरुवाच । किमित्यत्राह—हे साधो ! मया मायामुद्भाव्य कल्पयित्वा परीक्षितोऽसि । ऋषिप्रभावान्मय्यन्तको यमोऽपि प्रहर्तुं प्रभुर्न समर्थः, अन्ये हिंस्रा घातुकाः । 'शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः । 'नमिकम्पि०' इत्यादिना रप्रत्ययः । किमुत सुष्ठु न प्रभव इति योज्यम् । 'बलवत्सुष्ठु किमुत स्वत्यतीव च निर्भरे' इत्यमरः ।

व्याख्या—विस्मितं = विस्मयान्वितम्, चकितं वा, तं = राजानं दिलीपम्, धेनुः = नन्दिनी, उवाच = अवदत्, साधो ! = हे सज्जनशिरोमणे ! मया = नन्दिन्या, मायां = शाम्बरीम्, मायाम्, उद्भाव्य = कल्पयित्वा परीक्षितोऽसि = सम्यक् परीक्षितोऽसि, ऋषिप्रभावात् = वसिष्ठतपोऽनुभावात्, मयि = नन्दिन्याम्, अन्तकोऽपि = यमोऽपि प्रहर्तुं = प्रहारं कर्तुम्, न प्रभुः = नैव समर्थः । अन्यहिंस्राः = इतरे घातुकाः प्राणिनः = क्षुद्राणि सिंहादि-घातुकान्तराणि वा किमुत = अतितरामेव न प्रभवन्ति ।

समासः—ऋषेः प्रभावः ऋषिप्रभावः तस्मात् ऋषिप्रभावात् । अन्तं करोतीति अन्तकः । अन्ये च ते हिंस्रा अन्यहिंस्राः ।

भावार्थः—यदा सर्वमिदं विलोक्य राजा दिलीपः साश्चर्योऽभवत्तदा नन्दिनी प्रोवाच–राजन्! मया मायामयं सिंहमाविर्भाव्य तव भक्तिः परीक्षिता । मान्यथा चिन्तय, महर्षेर्वसिष्ठस्य प्रभावात् मयि यमोऽपि प्रहर्तुं नालम् किमन्ये घातुकाः वराकाः ।

भाषार्थ—आश्चर्य में पड़े हुए राजा से नन्दिनी ने कहा—हे राजन्! मैंने माया रचकर तेरी परीक्षा ली है । महर्षि वसिष्ठ के प्रताप से यमराज भी मुझपर प्रहार करने में समर्थ नहीं है, फिर दूसरे हिंसकों की तो क्या ताकत? ॥६२॥

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीताऽस्मि ते पुत्र! वरं वृणीष्व ।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥६३॥

अन्वयः—हे पुत्र! गुरौ भक्त्या मयि अनुकम्पया च ते प्रीता अस्मि, वरं वृणीष्व । मां केवलानां पयसां प्रसूतिं न अवेहि । किन्तु प्रसन्नां कामदुघाम् (अवेहि)।

सञ्जीविनी—भक्त्येति । हे पुत्र! गुरौ भक्त्या मय्यनुकम्पया च ते तुभ्यं प्रीताऽस्मि । 'क्रियाग्रहणमपि कर्त्तव्यम्' इति चतुर्थी । वरं देवेभ्यो वरणीयमर्थम् । 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक् प्रिये' इत्यमरः । वृणीष्व स्वीकुरु । तथाहि—मां केवलानां पयसां प्रसूतिं कारणं नावेहि न विद्धि । किन्तु प्रसन्नां माम् । कामान्दोग्धीति कामदुघा तामवेहि । 'दुहः कब्घश्च' इति कप्प्रत्ययः ।

व्याख्या—पुत्र! = हे वत्स! गुरौ = वसिष्ठे, भक्त्या = श्रद्धया, मयि = धेनौ नन्दिन्याम् अनुकम्पया = दयया, च = पुनः ते = तुभ्यम् प्रीताऽस्मि = अहं प्रसन्नास्मि, अतः वरं = अभिलषितमर्थम् वृणीष्व = वरय, वा, यतः मां = नन्दिनीम्, केवलानां = एकाकिनाम्, पयसां = दुग्धानामेव प्रसूतिं = जनयित्रीम्, उद्भवं कारणं वा न अवेहि, मा मन्यस्व, किन्तु प्रसन्नां = प्रीताम्, मां = नन्दिनीम्, कामदुघाम् = सकलाभीष्टप्रदामपि अवेहि = जानीहि, विद्धि वा ।

समासः—कामान् दोग्धीति कामदुघा तां कामदुघाम् ।

भावार्थः—राजन्! सप्रश्रयं तव गुरुभक्तिं मयि दयाभावञ्चावलोक्य त्वयि नितरां प्रसन्नास्मि । हे वत्स! मनोवाञ्छितं वरं याचस्व, मां केवलं दुग्धदानमात्रसमर्थामेव गां न जानीहि, किन्तु कामधेनुमिव सकलार्थपूरणसमर्थामवेहि ।

भाषार्थ—महर्षि वसिष्ठ में भक्ति और मेरे ऊपर दया करने से मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। हे पुत्र ! वर माँगो। मुझे निरी दूध देनेवाली गौ न समझो।

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्त्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥६४॥

अन्वयः—ततः मानितार्थी स्वहस्तार्जितवीरशब्दः सः हस्तौ समानीय वंशस्य कर्तारम् अनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे।

सञ्जीविनी—तत इति। ततो मानितार्थी। स्वहस्तार्जितो वीर इति शब्दो येन एतेनास्य दातृत्व दैन्यराहित्यं चोक्तम्। स राजा हस्तौ समानीय संधाय। अञ्जलिं बद्ध्वेत्यर्थः। वंशस्य कर्त्तारं प्रवर्त्तयितारम्। अत एव रघुकुलमिति प्रसिद्धिः। अनन्तकीर्तिं स्थिरयशसं तनयं सुदक्षिणायां ययाचे।

व्याख्या—ततः = नन्दिनीवचनश्रवणानन्तरम्, मानितार्थी = पूजितयाचकवर्गः स्वहस्तार्जितवीरशब्दः = स्वभुजबललब्धवीरशब्दः, सः = राजा दिलीपः, हस्तौ = करौ समानीय = सङ्गतौ कृत्वा, अञ्जलिं बद्ध्वा वा वंशस्य = स्वकुलस्य कर्तारं = प्रवर्तयितारम्, प्रतिष्ठापकं वा, अनन्तकीर्तिं = प्रचुरयशसम्, तनयं = पुत्रम्, सुदक्षिणायां = स्वभार्यायाम्, ययाचे = प्रार्थितवान् वव्रे वा।

समासः—मानिता अर्थिनो येन स मानितार्थी। स्वस्य हस्तौ स्वहस्तौ स्वहस्ताभ्याम् अर्जितः वीर इति शब्दो येनासौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः। न अन्तो यस्या सा अनन्ता अनन्ता कीर्तिर्यस्यासौ अनन्तकीर्तिः तमनन्तकीर्तिम्।

भावार्थः—नन्दिनीवचो निशम्य राजा दिलीपः तां प्रति बद्धाञ्जलिः सन् मात ! वंशप्रवर्तकं महायशस्करं पुत्रं सुदक्षिणायां देहीति वर वव्रे।

भाषार्थ—तब अतिथियों को सम्मानित करने वाले, अपने बाहुबल से 'वीर' शब्दवाले, राजा दिलीप ने सुदक्षिणा में वंश को चलानेवाले, स्थिर यशस्वी पुत्र होने की याचना की ॥६४॥

सन्तानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥६५॥

अन्वयः—सा पयस्विनी सन्तानकामाय राज्ञे तथा इति कामं प्रतिश्रुत्य 'हे पुत्र ! मदीयं पयः पत्रपुटे दुग्ध्वा उपभुंक्ष्व' इति तम् आदिदेश।

सञ्जीविनी—सन्तानेति। सा पयस्विनी गौः। सन्तानं कामयत इति सन्तानकामः। 'कर्मण्यण्'। तस्मै राज्ञे तथेति कामयत इति कामो वरः। कर्मार्थे

घञ्प्रत्ययः । तं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञाय 'हे पुत्र ! मदीयं पयः पत्रपुटे पत्रनिर्मिते पात्रे दुग्ध्वोपभुङ्क्ष्व' । 'उपयुङ्क्ष्व' इति वा पाठः । 'पिब' इति तमादिदेशाज्ञापितवती।

व्याख्या—सा = सकलकादुघा, पयस्विनी = दुग्धदात्री नन्दिनी गौः सन्तानकामाय = पुत्रार्थिने राज्ञे दिलीपाय, तथा = अस्त्वेवम् इति = इत्थम्, कामं = वरम्, प्रतिश्रुत्य = प्रतिज्ञाय, पुत्र ! = हे वत्स ! मदीयं = मामकीनम्, पयः = दुग्धम्, पत्रपुटे = पलाशपुटके दुग्ध्वा = प्रस्राव्य, उपभुङ्क्ष्व = पिब इति = इत्थम्, तं = राजानं दिलीपम्, आदिदेश = आज्ञापयामास ।

समासः—सन्तानं कामयते इति सन्तानकामः तस्मै सन्तानकामाय । प्रशस्तं पयोऽस्यास्तीति पयस्विनी । पत्राणां पुटः पत्रपुटः तस्मिन् पत्रपुटे । मम इदं मदीयं वत् मदीयम् ।

भावार्थः—नन्दिनी पुत्रार्थिने राज्ञे दिलीपाय हे वत्स ! यथेच्छसि तथा भवतु इति पुत्रवरं प्रदाय प्रोवाच—'राजन् ! पलाशपत्रनिर्मिते पत्रे मदीयं दुग्धं दुग्ध्वा पिब' इत्याज्ञां ददौ ।

भाषार्थ—उस नन्दिनी गौ ने पुत्र चाहने वाले राजा दिलीप से 'वैसा ही होगा' इस वरदान की प्रतिज्ञा करके 'हे पुत्र ! मेरे दूध को पत्ते के दोने में दुहकर पी जाओ' ऐसी उनको आज्ञा दी ॥६०॥

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः ! ।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥६६॥

अन्वयः—हे मातः ! वत्सस्य च होमार्थविधेः शेषम् तव औधस्यं रक्षितायाः षष्ठांशभागम् इव ऋषेः अनुज्ञाम् अधिगम्य उपभोक्तुम् इच्छामि ।

सञ्जीविनी—वत्सस्येति । हे मातः ! वत्सस्य वत्सपीतस्य शेषम्, वत्सपीतावशिष्टमित्यर्थः । होम एवार्थः, तस्य विधिरनुष्ठानम्, तस्य च शेषम् । होमावशिष्टमित्यर्थः । तव ऊधसि भवमौधस्यं क्षीरम् । 'शरीरावयवाच्च' इति यत्प्रत्ययः। रक्षिताया उर्व्याः षष्ठांशं षष्ठभागमिव । ऋषेरनुज्ञामधिगमय्य उपभोक्तुमिच्छामि ।

व्याख्या—मातः ! = हे जननि ! वत्सस्य = वत्सपीतिस्य, होमार्थविधेः = अग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठानस्य च, शेषं = अवशिष्टम्, तव = भवत्याः, औधस्यं = दुग्धम्, रक्षितायाः = पालितायाः, उर्व्याः = भूमेः, षष्ठांशमिव = षष्ठं भागमिव, ऋषेः = गुरोर्वसिष्ठस्य, अनुज्ञां = आज्ञाम्, अधिगम्य = लब्ध्वा, उपभोक्तुं = पातुम् इच्छामि = अभिलषामि ।

समासः—होम एवार्थः होमार्थः होमार्थस्य विधिः होमार्थविधिः, तस्य होमार्थविधेः। उधसि भवम् उधस्यं उधस्यमेव औधस्यं तत् औधस्यम्, षण्णां पूरणः षष्ठः षष्ठश्चासौ अंशश्च षष्ठांशः त षष्ठांशम्।

भावार्थः—हे मातः ! यथा पालितायाः पृथिव्याः धर्मतः, षष्ठं भागं कर-रूपेणाहं गृह्णामि तथैव गुरोराज्ञया वत्सोच्छिष्टं अग्निहोत्रावशिष्टं च तव दुग्धमपि पातुमिच्छामि। तथाहि मनुः—'राजा हि फलषड्भागं तस्मादाप्नोति रक्षिता।'

भाषार्थ—हे माता ! बछड़े के पीने से और होम करने से बचे हुए तुम्हारे दूध को ऋषि वसिष्ठ की आज्ञा पालन की गई पृथ्वी के छठे हिस्से के समान पीना चाहता हूँ ॥६६॥

इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥६७॥

अन्वयः—क्षितीशेन इत्थं विज्ञापिता वसिष्ठधेनुः प्रीततरा बभूव। तदन्विता वसिष्ठधेनुः हैमवतात् कुक्षेः सकाशात् अश्रमेण आश्रमं प्रत्याययौ च।

सञ्जीविनी—इत्थमिति। इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वसिष्ठस्य धेनुः प्रीततरा पूर्वं शुश्रूषया प्रीता सम्प्रत्यनया विज्ञापनया प्रीतितराऽतिसन्तुष्टा बभूव। तदन्विता तेन दिलीपेनान्विता हैमवताद्धिमवत्सम्बन्धिनः कुक्षेर्गुहायाः सकाशादश्रमेणानायासेनाश्रमं प्रत्याययावागता च।

व्याख्या—क्षितीशेन = भूपतिना दिलीपेन, इत्थं = अमुना प्रकारेण, विज्ञापिता = प्रार्थिता, वसिष्ठधेनुः—वसिष्ठर्षिगौः नन्दिनी, प्रीततरा = अत्यधिकं प्रसन्ना, बभूव = अभूत्। किञ्च तदन्विता = दिलीपानुयाता, हैमवतात् = हिमालय-सम्बन्धिनः कुक्षेः = गुहायाः सकाशात् अश्रमेण = अनायासेन, आश्रमं = वसिष्ठाश्रमम्, प्रति आययौ = प्रत्याजगाम च।

समासः—क्षितेः ईशः क्षितीशः तेन क्षितीशेन। वसिष्ठस्य धेनुः वसिष्ठधेनुः। अत्यधिकं प्रीता प्रीततरा, अतिशयेन प्रीता वा प्रतीतरा। तेन अन्विता तदन्विता। हिमवत अयं हैमवतः तस्मात् हैमवतात्। न श्रम अश्रमः तेन अश्रमेण।

भावार्थः—इत्थं नन्दिनी राज्ञो दिलीपस्य विनम्रं निवेदमाकर्ण्य सिंहवृत्तान्तेन प्रीतापि पुनरत्यन्तं प्रसन्ना बभूव। दिलीपेन साकमाश्रमं समाययौ च।

भाषार्थ—इस तरह राजा दिलीप की प्रार्थना से महर्षि वसिष्ठ की गौ नन्दिनी बहुत प्रसन्न हुई। और राजा के साथ हिमालय की गुफा से बिना परिश्रम के आश्रम के प्रति लौटी ॥६७॥

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥६८॥

अन्वयः—प्रसन्नेन्दुमुखः नृपाणां गुरुः प्रहर्षचिह्नानुमितं तस्याः प्रसादं पुनरुक्तया वाचा इव गुरवे निवेद्य प्रियायै शशंस ।

सञ्जीविनी—तस्या इति । प्रसन्नेन्दुरिव मुखं यस्य स नृपाणां गुरुर्दिलीपः प्रहर्षचिह्नैर्मुखरागादिभिरनुमितमूहितं तस्या धेनोः प्रसादमनुग्रहं प्रहर्षचिह्नैरेव ज्ञातत्वात्पुनरुक्तमेव वाचा गुरवे निवेद्य विज्ञाप्य पश्चात्प्रियायै शशंस । कथितस्यैव कथनं पुनरुक्तिः । न चेह तदस्ति । किन्तु चिह्नैः कथितप्रायत्वात्पुनरुक्तयेव स्थितयेत्युत्प्रेक्षा ।

व्याख्या – प्रसन्नेन्दुमुखः = प्रसन्नमुखचन्द्रः, नृपाणां = राज्ञाम् गुरुः = श्रेष्ठः, अधिपः = राजा दिलीपः, प्रहर्षचिह्नानुमितं = अधिकानन्दमुखविकासादितर्कितम्, तस्याः = नन्दिन्याः गोः, प्रसादं = वरम्, पुनरुक्तया = द्विरुक्तया, आम्रेडितया वा इव = यथा वाचा = वाण्या, गुरवे = वसिष्ठाय निवेद्य = सविनयं विज्ञाप्य, प्रियायै = सुदक्षिणायै, शशंस = सविस्तरमभिदधे ।

समासः—प्रसन्नश्चासौ इन्दुश्च प्रसन्नेन्दुः प्रसन्नेन्दुरिव मुखं यस्यासौ प्रसन्नेन्दुमुखः । प्रहर्षस्य चिह्नानि प्रहर्षचिह्नानि प्रहर्षचिह्नैः अनुमितः प्रहर्षचिह्नानुमितः तं प्रहर्षचिह्नानुमितम् । नॄन् पान्तीति नृपाः तेषां नृपाणाम् ।

भावार्थः—निजमुखविकासादिना कथितकल्पमपि नन्दिन्या वरानुग्रहं राजा दिलीपः प्रथमं गुरवे कथयित्वा पश्चात् प्रियायै सुदक्षिणायै सविस्तरं शशंस । अर्थात् स्वप्रशंसायाः स्वयं वक्तुमनुचितं मत्वा गुरवे केवलं वरदानमात्रं निवेद्य, सुदक्षिणायै हर्षानुमिताभीष्टलाभाय सिंहवृत्तान्तमारभ्य वरदानपर्यन्तं सर्वं विस्तरतो वर्णयामास ।

भाषार्थ—निर्मल चन्द्रमा के समान मुख वाले, राजाओं में श्रेष्ठ दिलीप ने हर्ष के चिह्नों से अनुमित होने वाले नन्दिनी के वरदानरूपी अनुग्रह को दुबारा कही हुई के समान वाणी द्वारा गुरु से निवेदन कर रानी से सविस्तर कहा ॥६८॥

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः ॥६९॥

अन्वयः—अनिन्दितात्मा सद्वत्सलः वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः सः (सन्) वत्सहुतावशेषं नन्दिनीस्तन्यं शुभ्रं मूर्तं यशः इव अतितृष्णः पपौ ।

सञ्जीविनी—स इति। अनिन्दितात्माऽगर्हितस्वभावः। सत्सु वत्सलः प्रेमवान्सद्वत्सलः। 'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति लच्प्रत्ययः। वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः कृतानुमतिः स राजा वत्सस्य हुतस्य चावशेषं पीतहुतावसिष्टं नन्दिन्याः स्तन्यं क्षीरं शुभ्रं मूर्त्तं परिच्छिन्नं यश इव। अतितृष्णः सन् पपौ।

व्याख्या—अनिन्दितात्मा = अगर्हितस्वभावः, सद्वत्सलः = सज्जनानुरागवान्, वसिष्ठेन = गुरुणा, कृताभ्यनुज्ञः = दत्तानुमितः, सः = राजा दिलीपः वत्सहुतावशेष = वत्सपानयज्ञाहुत्यवशिष्टम्, नन्दिनीस्तन्यं = नन्दिनीपयः, मूर्त्तं = मूर्तिमत् शुभ्रं = शुक्लम्, यश इव = कीर्तिमिव, अतितृष्णः = उत्कण्ठितः सन् पपौ = पीतवान्।

समासः—न निन्दितः अनिन्दितः अनिन्दित आत्मा यस्य स अनिन्दितात्मा। सत्सु वत्सलः सद्वत्सलः। वत्सश्च हुतञ्च वत्सहुते वत्सहुतयोः अवशेषं वत्सहुतावशेषं तत् वत्सहुतावशेषम्, कृता अभ्यनुज्ञा यस्य स कृताभ्यनुज्ञः। स्तनेषु भवं स्तन्यं नन्दिन्याः स्तन्यं नन्दिनीस्तन्यं तत् नन्दिनीस्तन्यम्। सत्सु वत्सलः सद्वत्सलः। अतिशयिता तृष्णा यस्यासौ अतितृष्णः।

भावार्थः—प्रशंसितस्वभावः सज्जनप्रियश्च राजा दिलीपः गुरोराज्ञया वत्सपान-होमादिकार्ययोरनन्तरमवसिष्टं नन्दिनीदुग्धं समुज्वलं साकार यश इव अतिप्रेम्णा पीतवान्।

भाषार्थ—प्रशंसनीय स्वभाव वाले, सज्जनों पर दयालु, महर्षि वसिष्ठ की आज्ञा पालन कर राजा दिलीप ने अतितृषित हो बछड़े के पीने और हवन से बचे हुए नन्दिनी के दूध को उज्ज्वल मूर्तिमान् यश के समान पिया॥६९॥

प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः॥७०॥

अन्वयः—वशी वसिष्ठः प्रातः यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य तौ दम्पती स्वां राजधानीं प्रति प्रस्थापयामास।

सञ्जीविनी—प्रातरिति। वशी वसिष्ठः प्रातः। यथोक्तस्य पूर्वोक्तस्य व्रतस्य गोसेवारूपस्याङ्गभूता या पारणा तस्या अन्ते प्रास्थानिकं प्रस्थानकाले भवं तत्कालोचितमित्यर्थः। 'कालाट्ठञ्' इति ठञ्प्रत्ययः। 'यथा कथंचिद् गुणावृत्त्याऽपि काले वर्त्तमानत्वात् प्रत्यय इष्यते' इति वृत्तिकारः। ईयते प्राप्यतेऽनेनेत्ययनं स्वस्त्ययनं शुभावहमाशीर्वादं प्रयुज्य तौ दम्पती स्वां राजधानीं पुरीं प्रति प्रस्थापयामास।

व्याख्या—वशी = जितेन्द्रियः, वसिष्ठः = महर्षिर्वसिष्ठः, प्रातः = प्रभाते यथोक्तव्रतपारणान्ते = गोसेवाव्रतसमाप्तिपारणानन्तरम्, प्रास्थानिकं = यात्राकालोचितम्, स्वस्त्ययनं = स्वस्तिवाचनम्, प्रयुज्य=कृत्वा, तौ = पूर्वोक्तौ दम्पती = जायापती सुदक्षिणादिलीपौ, स्वां = स्वकीयाम्, राजधानीं प्रति = प्रधाननगरीं अयोध्यां प्रति, प्रस्थापयामास = प्राहिणोत् ।

समासः—उक्तमनतिक्रम्य यथोक्तं यथोक्तं तद् व्रतं यथोक्तव्रतं यथोक्तव्रतस्य पारणा यथोक्तव्रतपारणा तस्या अन्तः यथोक्तव्रतपाराणान्तः तस्मिन् यथोक्तव्रतपारणान्ते । प्रस्थानकाले भवं प्रास्थानिकं तत् प्रास्थानिकम् । स्वस्ति ईयतेऽनेनेति स्वस्त्ययनं तत् स्वस्त्ययनम् । धीयतेऽस्यां धानी राज्ञः धानी राजधानी तां राजधानीम् । जाया च पतिश्चेति दम्पती तौ दम्पती । वशोऽस्यास्तीति वशी ।

भावार्थः—परेऽस्मिन् दिने प्रातः गोसेवाव्रतसमाप्तिपारणानन्तरं संयमीन्द्रियो वसिष्ठो मुनिः यात्राकालिकं 'शिवा वां सन्तु पन्थानः, पुत्रवन्तौ भूयास्तं युवाम्' इत्यादिकं माङ्गलिकसूक्तपाठाशीर्वादादिकं शुभाशंसनं विधाय सुदक्षिणादिलीपौ तद्राजधानीमयोध्यां प्रति प्रेषयामास ।

भावार्थ—प्रातःकाल जितेन्द्रिय महर्षि वसिष्ठ ने विधिपूर्वक गोसेवा रूपी व्रत की पारणा करने के बाद यात्रा के समय समुचित स्वस्तिवाचन कर, उन दोनों राजा-रानी को उनकी राजधानी की ओर भेजा ॥७०॥

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च ।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥७१॥

अन्वयः—नृपः हुतं हुताशं च भर्तुः अनन्तरम् अरुन्धतीं च सवत्सां धेनुं च प्रदक्षिणीकृत्य सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः (सन्) प्रतस्थे ।

सञ्जीविनी—प्रदक्षिणीकृत्येति । नृपो हुतं तर्पितं हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः । 'कर्मण्यण्' । तं भर्तुर्मुनेरनन्तरम् । प्रदक्षिणानन्तरमित्यर्थः । अरुन्धतीं च सवत्सां धेनुं च प्रदक्षिणीकृत्य प्रगतो दक्षिणं प्रदक्षिणम् । 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च' इत्यव्ययीभावः । ततश्च्विः । अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं सम्पद्यमानं कृत्वा प्रदक्षिणीकृत्य । सद्भिर्मङ्गलाचारैरुदग्रतरप्रभावः सन् प्रतस्थे ।

व्याख्या—नृपः = राजा दिलीपः, हुतं = घृतादिना विधिवत्तर्पितम्, हुताशं = अग्निम्, भर्तुः = पत्युः मुनेर्वसिष्ठस्य, अनन्तरं = प्रदक्षिणानन्तरम्, अरुन्धतीं = गुरुपत्नीम्, च सवत्सां = वत्ससहिताम्, धेनुं = नन्दिनीं च प्रदक्षिणीकृत्य = परि-

क्रम्य, सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः = मङ्गलाचारप्रवृद्धतेजाः, सोत्साहः सन् प्रतस्थे = आश्रमात् प्रचचाल ।

समासः—प्रगतो दक्षिणं प्रदक्षिणम् न प्रदक्षिणमप्रदक्षिणम् अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं सम्पद्यमानं विधाय प्रदक्षिणीकृत्य । हुतमश्नातीति हुताशः तं हुताशम् । न विद्यते अन्तरं यस्मिन् कर्मणि तत् अनन्तरं यथास्यात्तथा (क्रियाविशेषणमिदम्) वत्सेन सहिता सवत्सा तां सवत्साम् । सन्ति मङ्गलानि सन्मङ्गलानि सन्मङ्गलैः अतिशयेन उदग्रः उदग्रतरः उदग्रतरः प्रभावो यस्यासौ सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ।

भावार्थः—कृतमङ्गलाचारो राजा दिलीपः घृतादिभिः समिद्धं पावकं सवत्सां गां नन्दिनीं सपत्नीकं गुरुं वसिष्ठं च प्रदक्षिणीकृत्य हुताशारुन्धतीवसिष्ठ-नन्दिनीनां परिक्रमणादिना प्रवृद्धतेजाः प्रसन्नः सन् स्वां पुरीं प्रति प्रतस्थे ।

भाषार्थ—राजा दिलीप ने प्रज्वलित अग्नि और मुनि की प्रदक्षिणा के बाद अरुन्धती और बछड़े के साथ नन्दिनी की प्रदक्षिणा करके अच्छे मङ्गलाचारों से प्रवर्धित प्रताप वाला होते हुए प्रस्थान किया ॥७१॥

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥७२॥

अन्वयः—धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः सः श्रोत्राभिरामध्वनिना अनुद्घातसुखेन रथेन स्वेन पूर्णेन मनोरथेन इव मार्गं ययौ ।

सञ्जीविनी—श्रोत्रेति । धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुर्व्रतादिदुःखसहनशीलः सः नृपः श्रोत्राभिरामध्वनिना कर्णाह्लादकरस्वनेनानुद्घातः । पाषाणादिप्रतिघातरहितः । अत एव सुखयतीति सुखः, तेन रथेन स्वेन पूर्णेन सफलेन मनोरथेनेव मार्गाध्वानं ययौ । मनोरथपक्षे—ध्वनिः श्रुतिः । अनुद्घातः प्रतिबन्धनिवृत्तिः ।

व्याख्या—धर्मपत्नीसहितः = सुदक्षिणासंयुतः, सहिष्णुः = मार्गादिकष्टसहन-शीलः सः = राजा दिलीपः, श्रोत्राभिरामध्वनिना = कर्णसुखकरध्वनिना अनुद्घात-सुखेन = अस्खलितगतिसुखदेन, रथेन = स्यन्दनेन, स्वेन = आत्मीयेन, पूर्णेन = सफलेन मनोरथेनेव अभिलाषेणेव मार्गं = पन्थानं ययौ=जगाम ।

समासः—श्रोत्रयोः अभिरामः श्रोत्राभिरामः श्रोत्राभिरामो ध्वनिर्यस्यासौ श्रोत्राभिरामध्वनिः तेन श्रोत्राभिरामध्वनिना । धर्मार्थं पत्नी धर्मपत्नी धर्मपत्न्या सहितः धर्मपत्नीसहितः । सहते इति सहिष्णुः । सुखयतीति सुखः अनुद्घातश्चासौ सुखश्चेति अनुद्घातसुखः तेन अनुद्घातसुखेन ।

भावार्थः—सभार्यो राजा दिलीपः म
अस्खलितसुखेन मधुरध्वनिना रथेन गोसेवाद्वा
मनोरथेन इव स्थितेन यात्रां कृतवान् ।

भाषार्थ—रानी सुदक्षिणा के साथ-साथ
उस राजा ने कर्णसुखद-ध्वनि-युक्त, मार्ग के
रहित अतएव सुखप्रद सफल मनोरथ के समान

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्र
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदय

अन्वयः—अदर्शनेन आहितौत्सुक्यं प्रजार्थ
वद्भि नेत्रैः नवोदयम् ओषधीनां नाथम् इव पप

सञ्जीविनी—तमिति । अदर्शनेन प्रवासनिमित्तेनाहितौत्सुक्यं जनितदर्श-नोत्कण्ठम् । प्रजाऽर्थेन सन्तानार्थेन व्रतेन नियमेन कर्शितं कृशीकृतमङ्गं यस्य तम् । नवोदयं नवाभ्युदयं प्रजास्तृप्तिमनाप्नुवद्भिरतिगृध्नुभिर्नेत्रैः । ओषधीनां नाथं सोम-मिव तं राजानं पपुः । अत्यास्थया ददृशुरित्यर्थः । चन्द्रपक्षे—अदर्शनं कलाक्षय-निमित्तं प्रजाऽर्थे लोकहितार्थं व्रतं देवताभ्यः कलादाननियमः "तं च सोमं पपुर्देवाः पर्यायेणानुपूर्वशः" इति व्यासः । उदय आविर्भावः । अन्यत्समानम् ।

व्याख्या—अदर्शनेन = प्रवासनिमित्तेन अनवलोकनेन, आहितौत्सुक्यं = सम्पा-दितकुतूहलम्, प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गं = सन्तानार्थनियमतनूकृतावयवम्, नवोदयं = सद्यः समागतम्, अभिनवाभ्युदयं वा, तृप्तिं = सन्तर्पणम्, अनाप्नुवद्भिः = अग-च्छद्भिः अत्युकण्ठितैः, नेत्रैः = लोचनैः नवोदयं = नवोदितम्, ओषधीनां नाथं = ओषधीशं चन्द्रमिव प्रजाः = जनाः, तं = राजानं दिलीपम्, पपुः = अपिबन्निव नितरां ददृशुः । चन्द्रपक्षे—अदर्शनेन = अवीक्षणेन, आहितौत्सुक्यं = जनितदर्शनो-त्कण्ठम्, प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गं = लोकहितार्थं कलादानकृशीभूतकलेवरम्, नवोदयं = नूतनमुदितम्, द्वितीयाचन्द्रम् इत्यर्थोऽवसेयः । चन्द्रो हि देवपित्रादिभ्यस्तेषां तृप्तये स्वकीयां कलां प्रददाति । तथा चोक्तं विष्णुपुराणे—

'तं च सोमं पपुर्देवा पर्यायेणानुपूर्वशः ।'

समासः—आहितम् औत्सुक्यं येनासौ आहितौत्सुक्यः तम् आहितौत्सुक्यम् । न दर्शनम् अदर्शनं तेन अदर्शनेन । प्रजा अर्थो यस्य तत् प्रजार्थं प्रजार्थं च तद् व्रतं च प्रजार्थव्रतं प्रजार्थव्रतेन कर्शितानि अङ्गानि यस्यासौ प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गः-